

DAMAGE BOOK

UNIVERSAL
LIBRARY

OU_186452

UNIVERSAL
LIBRARY

SMANIA UNIVERSITY LIBRARY

H 615.53 Accession No. H 2502

D215

दत्तरी केशव लक्ष्मण

साहित्यिक प्रकाशिका

book should be returned on or before the date
d below.

साचिकित्साप्रकाशिक

प्रथमखंड पूर्वार्ध

रहस्य वर्णन H

(हिंदी अनुवाद)

मूल मराठी लेखक

विद्वद्रत्न डॉ. केशव लक्ष्मण दत्तरी

बी. ए., बी. एल्., डी. लिट् [ऑनररी]

और

डॉ. नीलकंठ रामचंद्र माऊस्कर,

सब् असिस्टंट सर्जन, मेडिकल प्रॅक्टिशनर, नाशिक.

अनुवादक

प्राध्यापक:- गोपाल गुप्त

शके १८७७] : मूलकालीन रूपसे [ई. स. १९५५

प्रकाशक तथा मुद्रक
कृष्णराज श्रीसुरलीधर महानुभाव
गोरक्षण मुद्रणालय, वर्धा मार्ग,
नागपूर.

Checked 1965

प्रथमावृत्ति

Checked 1969

(अभ्यासोत्तर पुनर्मुद्रणादि सर्वाधिकार प्रकाशकाधीन)

अनुवादक की ओर से

लेखक—गोपाल गुप्त

मैं अपने चर्मरोग को (एक्जिमा को) अपना जीवन-साथी ही कहने लग गया था। लेकिन मेरे एक मित्र ने एक दिन उक्त कथन पर आक्षेप किया और दूसरे ही दिन वह मुझे भाऊजी के यहां ले गया। उनके साथ काफी समय तक बातचीत होती रही। मैंने उनसे कहा कि बीस साल पहले की बात है, मेरे हाथों की अंगुलियों में एका एक फुन्सियां आविर्भूत होने लगीं जिन पर घी में मिला शिक-अक्साइड लगाकर मैं आराम पा लेता था। क्रमशः फुन्सियों में कुछ उग्र रूप दिखाई दिया जो उस मरहम से कम न हो सका। समान रोगियों के कथन पर विभिन्न मरहम का प्रयोग करने के उपरान्त “जर्म्स-कीलर” का प्रयोग करने लगा। उससे कुछ दिनों तक आराम अवश्य रहा लेकिन बाद में वह भी फुन्सियों को सदैव के लिये अच्छा न कर सका, इतना ही नहीं, फुन्सियां अधिकाधिक विकृत रूप में प्रकट होने लगीं। डॉक्टरों ने ‘खून खराबी’ कारण बतला कर शहद और सार्सा-परिला सेवन करते रहने को कहा और ऊपर से “एम. बी. ९६” का मरहम लगाने दिया। इसके पूर्व मैं उनके कथन पर सेप्टिनिलम की कई गोलियां अन्तर्वाह्य प्रयुक्त कर चुका था। सब कुछ करने पर भी डॉक्टरों को जाहिर करना पड़ा कि ये मामूली फुन्सियां नहीं हैं, एक्जिमा हैं जो कभी अच्छा होता ही नहीं। मैं भी डॉक्टरों को तक एक्जिमा से परेशान देख उनकी बातों पर विश्वास करने लगा। एक अन्य मित्र के जरिये मैं अब हकीम के पास गया। उसने एक माह के अन्दर अच्छा करने को कहा और मुझे जमालगोटे की दस गोलियां दीं, जो दो दिन आड़ लेनी थीं; साथ ही खाने को सिर्फ चने की दाल और रोटी कहा। पहिली गोली रात के ग्यारह बजे ली और ठीक बारह बजे ऐसा जम कर दस्त हुआ कि अंतडियों में अनाज का एक दाना भी न रहा होगा। इस प्रकार छः गोलियां खाई, हलिया दुरुस्त हो गईं

और शेष गोलियां खाने का साहस ही नहीं रहा। एक्झिमा सूख-सा गया परहेज करता हुआ मैं शरीर से गल गया। ऐसी ही हालत में एक दिन एक्झिमा अपनी पूरी ताकत के साथ उभर आया। मैं सब कुछ खाने लगा। डाक्टरों ने सलाह दी-इमे एसिड में जला दोगे तो संभव है जड़ से निकल जायगा। आशा से एसिड की जलन का भी तिवानुभव किया लेकिन एक्झिमा से पिंड न छुड़ा सका। तरह तरह के प्रयोगों एवं पथ्य पालन में पंद्रह साल बीत गये। अंगुल के बाबा जैसे एक साधु से जड़ी-बूटी खाकर देखी, झाड़ू-पूँक का भी अनुभव करके देखा, यहां तक कि नीम की पत्ती, काटाकुराटा, सब कुछ उदरस्थ करता रहा लेकिन भक्तों के भगवान की नाई एक्झिमा मुझ में रमा रहा। इनुमान की पूँछ की भाँति बढ़ते हुए सर्वांग व्यापी एक्झिमा के दो चार रोगियों को भी देखा और मैं अपने जीवन में बड़ा चिंतित-सा रहने लगा। रोग मेरे सुखी जीवन को विनष्ट करते दिखाई दिये। इसी समय एक आयुर्वेदाचार्य के दर्शन हुए। उन्होंने तरह तरह के भस्मों का सेवन करने को दिया, शोधक गंधक को तो मैं भोजन की भाँति हजम कर चुका था। उन्होंने एक 'काल भस्म' नामक औषधि सेवन को दी और पथ्य था घी शक्कर रोटी। कोटकतुल्य मात्रा ही मैं उसकी रोजाना लेता था लेकिन हालत ऐसी होगई थी कि विस्तर में दबे मुँह को जरा भी हिलाया कि मिचमिचाहट से परेशान हो जाता था। इस प्रकार दस दिन दिसम्बर की छुट्टी के विस्तर में गुजारे। हाथों पर खिपलियां पड़ गईं, पथ्य बना रहा लेकिन कुछ दिन बाद पुनः हाथों में खुजाल शुरू हुई और एक्झिमा पूर्ववत् झलकने लगा। आंखों पर चष्मे की भाँति मेरे हाथों पर पट्टियां विराजमान रहती थीं। हाथों पर भांप लेने में रोजाना घंटों समय बिताता था। हाथों की सेवा जीवन-व्यापार का एक अनिवार्य अंग बन गयी थी सौभाग्य से एक दिन एक होमियोपैथिक डाक्टर मिले, उन्होंने दो साल की अवधि मांगी, उनकी औषधि लेता रहा और भ्राराम भी पाता रहा। हाथों से पट्टियां छुट गईं लेकिन तीसरे साल तलुओं में भी

एक्झिमा अपना रूप दिखाने लगा । अतः गुह्ये में आकर उस समय होमियोपैथी के प्रति मेरे अज्ञान-भाव के कारण मैं उसे गालियां देता हुआ तथा अपने घरेलू उपचारों को आस्था के साथ करता हुआ एक्झिमा को सोलह आने जीवन साथी समझने लग गया ! लेकिन मेरे पांच साल के बच्चे को उसी रोग से और उसी क्रम से आक्रांत देख जीवन-संघर्ष के रूप में पाश्चात्यों के कथन की सच्चाई का सादर समानुभव करने लगा और मैंने बच्चे के रोग का डाक्टरों की ओर से व्यवस्थित रूप में इलाज करने की ठान ली । उन्हीं के औषधोपचार में फोड़े एक्झिमा में परिणत हुए । बच्चे को रक्तशोधन के इन्जेक्शन पर इन्जेक्शन लगे, उसीके खून के इन्जेक्शन भी दिये जाने लगे । बच्चे का चीखना मां-बाप के हृदय को मसोस देता था । रात-रात वह भगवान को पुकारता था और मां-बाप उसकी हालत जीते जी देखते थे ।

डाक्टरों के घरों में पली मेरी पत्नी भी अपने मैके से न मालूम कौन कौन से अगणित चिरकारी क्रान्तिक रोग लेकर आई थीं, गरमी के दिनों में वह बरफ पर ही रहती थी । क्यों कि वह जो कुछ भी खाती थी कय कर देती थी । मुख संचारक कंपनी की सभी प्रसिद्ध पेटेन्ट दवाइयाँ तथा बाद में वैद्यों की गोलियाँ खिला खिलाकर अब उसमें डाक्टरों की सलाह से प्रतिवर्ष लिवर इन्जेक्शन, टानिक की बोटलें और न जाने कौन-कौनसी टेबलेट दिया करता था । गुब्बारे जैसी वह फूलती थी लेकिन हवा निकल जाने पर पहिले से भी बदतर दिखती थी । सिर-दर्द, जुखाम आदि के बढ़ने पर वह रक्तहीन मांस-सो लगती थी । डाक्टरों के कहने पर उसे मौसमी फल भी खिलाता था । मुसम्मी और कोई टानक रोगी, उसके भोजन के आवश्यक अंग थे । मेरे शेष दो बच्चे भी फोड़े फुन्सी, निमोनिया आदिके सामान्य रूपसे रोगी रहते थे । इस प्रकार मैं रोगी, मेरी पत्नी रोगी और मेरे बच्चे भी रोगी विज्ञान-युग के ऐसे रोगी ले संसार को लेकर, रोगों को जावन का अभिन्न साथी मानकर मैं इस जीवन-संघर्ष में जीवन-लीला की खोज करने की कोशीस कर रहा हूँ ।

मेरी यह लम्बी चौड़ी जीवन-गाथा सुनकर भाऊजी मुस्कुराये ।

और शेष गोलियां खाने का साहस ही नहीं रहा। एक्झिमा सूख-सा गया परहेज काता हुआ मैं शरीर से गल गया। ऐसी ही हालत में एक दिन एक्झिमा अपनी पूरी ताकत के साथ उभर आया। मैं सब कुछ खाने लगा। डाक्टरों ने सलाह दी-इसे एसिड में जला दोगे तो संभव है जड़ से निकल जायगा। आशा से एसिड की जलन का भी तिव्रानुभव किया लेकिन एक्झिमा से पिंड न छुड़ा सका। तरह तरह के प्रयोगों एवं पथ्य पालन में पंद्रह साल बीत गये। अंगुल के बाबा जैसे एक साधु से जड़ी-बूटी खाकर देखी, झाड़ू-फूँक का भी अनुभव करके देखा, यहां तक कि नीम की पत्ती, काटाकुराटा, सब कुछ उदरस्थ करता रहा लेकिन भक्तों के भगवान की नाई एक्झिमा मुझ में रमा रहा। हनुमान की पूँछ की भांति बढ़ते हुए सर्वांग व्यापी एक्झिमा के दो चार रोगियों को भी देखा और मैं अपने जीवन में बड़ा चिंतित-सा रहने लगा। रोग मेरे सुखी जीवन को विनष्ट करते दिखाई दिये। इसी समय एक आयुर्वेदाचार्य के दर्शन हुए। उन्होंने तरह तरह के भस्मों का सेवन करने को दिया, शोधक गंधक को तो मैं भोजन की भांति हजम कर चुका था। उन्होंने एक 'काल भस्म' नामक औषधि सेवन को दी और पथ्य था घी शक्कर रोटी। कोटकतुल्य मात्रा ही मैं उसकी रोजाना लेता था लेकिन हालत ऐसी होगई थी कि बिस्तर में दबे मुँह को जरा भी हिलाया कि मिचमिचाहट से परेशान हो जाता था। इस प्रकार दस दिन दिसम्बर की छुट्टी के बिस्तर में गुजारे। हाथों पर खिपलियां पड़ गईं, पथ्य बना रहा लेकिन कुछ दिन बाद पुनः हाथों में खुजाल शुरू हुई और एक्झिमा पूर्ववत् झलकने लगा। आंखों पर चष्मे की भांति मेरे हाथों पर पट्टियां विराजमान रहती थीं। हाथों पर भांप लेने में रोजाना घंटों समय बिताता था। हाथों की सेवा जीवन-व्यापार का एक अनिवार्य अंग बन गयी थी सौभाग्य से एक दिन एक होमियोपैथिक डाक्टर मिले, उन्होंने दो साल की अवधि मांगी, उनकी औषधि लेता रहा और आराम भी पाता रहा। हाथों से पट्टियां छुट गईं लेकिन तीसरे साल तलुओं में भी

एक्झिमा अपना रूप दिखाने लगा। अतः गुस्से में आकर उस समय होमियोपैथी के प्रति मेरे अज्ञान-भाव के कारण मैं उसे गालियाँ देता हुआ तथा अपने घरेलू उपचारों को आस्था के साथ करता हुआ एक्झिमा को सोलह आने जीवन साथी समझने लग गया ! लेकिन मेरे पांच साल के बच्चे को उसी रोग से और उसी क्रम से आक्रांत देख जीवन-संघर्ष के रूप में पाश्चात्यों के कथन की सच्चाई का सादर समानुभव करने लगा और मैंने बच्चे के रोग का डाक्टरों की ओर से व्यवस्थित रूप में इलाज करने की ठान ली। उन्हीं के औषधोपचार में फोड़े एक्झिमा में परिणत हुए। बच्चे को रक्तशोधन के इन्जेक्शन पर इन्जेक्शन लगे, उसीके खून के इन्जेक्शन भी दिये जाने लगे। बच्चे का चीखना मां-बाप के हृदय को मसोस देता था। रात-रात वह भगवान को पुकारता था और माँ-बाप उसकी हालत जीते जी देखते थे।

डाक्टरों के घरों में पली मेरी पत्नी भी अपने मैके से न मालूम कौन कौन से अगणित चिरकारी क्रान्तिक रोग लेकर आई थीं, गरमी के दिनों में वह बरफ पर ही रहती थी। क्यों कि वह जो कुछ भी खाती थी कय कर देती थी। मुख संचारक कंपनी की सभी प्रसिद्ध पेटेन्ट दवाइयाँ तथा बाद में वैद्यों की गोलियाँ खिला खिलाकर अब उसे मैं डाक्टरों की सलाह से प्रतिवर्ष लिवर इन्जेक्शन, टानिक की बोतलें और न जाने कौन-कौनसी टेब्लेट दिया करता था। गुब्बारे जैसी वह फूलती थी लेकिन हवा निकल जाने पर पहिले से भी बदतर दिखती थी। सिर-दर्द, जुखाम आदि के बढ़ने पर वह रक्तहीन मांस-सो लगती थी। डाक्टरों के कहने पर उसे मौसमी फल भी खिलाता था। मुसम्मी और कोई टानक रोगी, उसके भोजन के आवश्यक अंग थे। मेरे शेष दो बच्चे भी फोड़े फुन्सी, निमोनिया आदिके सामान्य रूपसे रोगी रहते थे। इस प्रकार मैं रोगी, मेरी पत्नी रोगी और मेरे बच्चे भी रोगी विज्ञान-युग के ऐसे रोगी ले संसार को लेकर, रोगों को जीवन का अभिन्न साथी मानकर मैं इस जीवन-संघर्ष में जीवन-लीला की खोज करने की कोशीस कर रहा हूँ।'

मेरी यह लम्बी चौड़ी जीवन-गाथा सुनकर भाऊजी मुस्कुराये।

उन्होंने इतना ही कहा कि धीरज रखना होगा और पथ्य करना होगा। यह तय हुआ बच्चे को पहिले दवा दी जाय। पहिले पहिले तो लगातार और बाद में चार छः माह के बाद इस प्रकार बच्चे को उन्होंने दो साल तक दवा दी। बच्चा एकसिमा से निर्मुक्त हो गया। डिशन की दवा से छुटपन में बैठे हुए उसके कान फूटे। उस पर भी उन्होंने दवा दी। कान बहकर अच्छे हो गये। एक दिन छाती में बाईं तरफ दर्द तथा सांस में कुछ रुकावट पैदा होने से वह एका एक बेहोश हो गया। उसी हालत में मैं उसे भाऊजी के यहां ले गया, उन्होंने एक पुड़ी दी, कुछ हलचल-सी मालूम दी, दूसरी दी, उसने आंखें खोलीं तीसरी दी और वह हंसता हुआ उठकर बैठ गया। रिकशेवाला यह सब देख दंग रह गया। मैं बच्चे को आज सर्वथा नीरोग पाता हूं।

भाऊजी ने प्रसूतेकाल में पत्नी को दवा दी। प्रसूति सकुशल हुई। पहिले जो डॉक्टर की दवाइयों पर सौ से कम खर्च नहीं होता था इस बार दस बारह रुपये में हो मैं निपट चुका। भाऊजी ने 'एन-मिक' के लिये दो तीन साल में दो चार बार ही दवा दी होगी। आज वे सब उसके जीवन-साथी उसे छोड़कर कहां चल बसे, पता नहीं। वह अब तेली के बैल की तरह दिन रात गृहकार्य में व्यस्त रहती है, न शुद्ध हवा खाने बाहर जा पाती है और न मोसमी फल ही खाती है तथापि स्वस्थ है। उसे दंत रोग था और वह चष्मा भी लगाती थी। भाऊजी ने तरह तरह के दंतमंजन और टूथपेस्ट बंद करवा कर केवल ६.६ की राख से दंतधावन करते रहने को कहा और ब्रश के स्थान पर दातून के इस्तेमाल पर जोर दिया। आज वह दंतरोग से भी मुक्त है। इतना ही नहीं वह अब चष्मा लगाना भी भूल गई है। एक बार उसे अंगुलबेड़ा हुआ। भाऊजी ने एक पुड़िया दी। रात भर वह सबको गालियाँ बकती हुई बिस्तर पर वेदनाभिभूत करवटें बदलती रही और सुबह दूसरे दिन हंसने भी लग गई।

मेरी बड़ी बच्ची को बचपन से ही फिट आया करते थे और वह भी अक्सर बुखार में। लेकिन उसका भी वह रोग जाता रहा।

वह कमशः स्वास्थ्य-सुधार का अनुभव कर रही है । मेरी छोटी बच्ची भी फोड़े, दस्त, निमोनिया आदि से कमशः ग्रस्त रही थी लेकिन वह भी भाऊजी की दवा से स्वास्थ्य प्राप्त कर रही है । मेरी चतुर्थ संतान को तो वे बचपन से दवा दे रहे हैं । वह जब पैदा हुई उसकी नाभि से छः माह तक पीप बहती रही । हम सभी भाऊजी की दवा पर शीका करने लगे, चोरी-छिपे हमने डॉक्टरों तक को दिखलाया लेकिन अन्त में भाऊजीकी ही वाणी सच निकली । कुछ दिन बाद उस बच्चे को एक के बाद एक ऐसे दो उलटे मुंह के फोड़े जंघाओं में हुए । भाऊजी ने दवा दी फोड़े फूट कर अच्छे भी हो गये । उस रोगावस्था में कोई बाहर का यह कह नहीं पाता था कि बच्चा बीमार है । उसे दो बार निमोनिया भी हुआ । उन्होंने पुड़िया दी । हम संचितित यर अनुभव करने थे कि बच्चे की अब सांस उखडती है । डॉक्टर को बुलाने पर तुल जाने थे । लेकिन अन्त में भाऊजी की दवा ही सफर रही । फोड़ों के बाद बच्चे को दस्त की बीमारी ने हड्डियों का ढांचा बना डाला । पास पड़ौसी सटवी की बीमारी की आशंका करने लगे और हम भी सशक्ति होने लगे । उसका बढ़ा हुआ पेट, हड्डियों से पृथक-पौ चमड़ी, लाई दूध का भी दस्त के रास्ते निकल जाना आदि देख कर हम कई बार विचलित होते रहे, अन्त में भाऊजी का ही कहना सच निकला । उसे खाया हुआ हजम होने लगा । तथापि पतले दस्त की बीमारी पूर्णतः दुरुस्त गाढा नहीं हुई । चार छः माह के बाद उसे नेफ्रीटिस (Nephritis) रोग हुआ और साथ में महाभयानक खुजली हुई । पतले दस्त की जगह पाखाना होने लगा । नेफ्रीटिस से मुक्त होते ही बच्चे ने अट्रपूरव एरसोपलस (Erysipelas) का भी अनुभव किया । आज बच्चा पूर्ण स्वस्थ है ।

भाऊजी ने हमेशा घी दूध (गाय का) के सेवन पर बल दिया , दूध मिली लाई या निरी लाई पर उन्होंने हमेशा बच्चों को रोगावस्थ में रखने को कहा, खान-पान में सादगी पर विशेष जोर दिया । उन्हीं के कहने से गोमाता को घर में लाकर हम आज पूर्ण सुखानुभव कर

रहे हैं। उन्होंने गाय को भी अपनी दवा की पुडिया दी और उसे रोगमुक्त किया। मैं एक्झिमा का तो रोगी था ही लेकिन इसके अतिरिक्त मूलव्याध, पित्त-प्रकोप आदि कई बीमारियों से भी परेशान रहता था। लेकिन बीच में जब दो तीन बार बीमार पड़ा और उस पर उन्होंने जो दवा दी, उस से बुखार तो अच्छा हो गया लेकिन साथ ही मुझे विभिन्न रोगों से भी मुक्ति मिल गई। मैं चाह कर भी एक्झिमा पर अभी सिलसिलेवार दवा नहीं लेपा रहा हूँ क्योंकि वह प्रकट होता ही नहीं। इसी प्रकार घर भरको दस्त साफ न होने की बीमारी थी। डाक्टरों के कहे मुताबिक मैं प्रति सप्ताह बच्चों को एनिमा दिया करता था। और मैं तो बहुत पहिले से नियमित रूप से उपःपान किया करता था। लेकिन अब देखता हूँ हर कोई बिस्तर से उठते ही पाखाना जाता है। न उपःपान की जरूरत रही और न एनिमा या परगेटिव की। रोग ऋतु परिवर्तनानुसार आते हैं पर चिंतापन्न किये बिना ही चल देते हैं। अब ऐसा लगता है कि जीवन-लीला पुनः उतर आई है और वह पाश्चात्यों का जीवन-संघर्ष का भूत न मालूम कहाँ गायब हो गया है।

मैंने पास पड़ोस के कई दाढ़-दर्द के रोगियों को जो दूसरे दिन दांत उखाड़ने के लिए डॉक्टर के यहाँ जाने को उद्यत थे, दवा दिलवा रक दूसरे दिन हंसते हुए काम में जुटे देखा है; दो चार एक्झिमा के रोगियों को सफलता पूर्वक दवा दिलवाई है; बुखार के मरीजों को “बढ़कर बुखार का घटना” अनुभव कराया है तथा कोई भी रोग बढ़कर किस तरह कमिक ढंग से कम कम होता हुआ शरीर से पूर्णतः निष्कासित होता है, यह उन्हीं पर औषधि प्रयोग कर के उन्हीं से कहलाया है। मैं तो भाऊजी के औषधोपचार में आकर यही अनुभव कर पाया हूँ कि उनका औषधोपचार चमत्कार-सदृश काम करता है। वे स्वयं औषधिनिर्माण एवं औषधिवितरण दोनों करते हैं। उनके घर के सभी कुशल चिकित्सक हैं। पुराने रोगियों के रंग निष्काशन में निश्चय से ही विलम्ब लगता है। उसके लिये धीरज और पथ्य-पालन अनिवार्य है। असाध्य रोगियों का तो रोग बढ़ता ही

रहता है। एवं उनका औषधोपचार तुरंत मरीज को बतला देता है कि वह साध्य या असाध्य है। यही औषधोपचार भारत में एक समय में सुप्रचलित था जिसे दृष्टांत रूप में लेकर भागवतकार ने कर्म से कर्मनाश किस प्रकार होता है यह अपने पुराण में समझाया है। “अतिसारे विरेचनं दद्यात्... एवमपि स्वबुद्ध्या विकल्प्यम्” आदि वचनों से आयुर्वेद भी इसी औषधोपचार का समर्थक प्रतीत होता है लेकिन दुर्भाग्य से उस औषधोपचार का आज के आयुर्वेद ज्ञाताओं ने त्याग—सा कर दिया है। जीवन के अन्यान्य क्षेत्रों में भी हमने प्राचीन अच्छी बातें वर्जित कर घातक मात्र अपना ली हैं। तभी तो आज का आयुर्वेदोपचार निरर्थक सिद्ध हो रहा है। पूर्व प्रचलित यह आद्युर्वेदीय औषधोपचार अंग्रेजी में होमियोपैथी और उसीका परिष्कृत एवं संक्षिप्त रूप बायोकेमिक कहलाता है। जो जो व्यक्ति भाऊजी के संसर्ग में आये हैं, उस चिकित्सा का अध्ययन—मनन एवं सेवन कर पाये हैं वे इसी निर्णय पर पहुँचे हैं कि यह रोगाक्रांत भारत इसी एकमात्र चिकित्सा के अवलम्बन पर रोग-मुक्त होकर विगतकालीन जीवन—लीला का आज की आपन्नावस्था में भी पुनश्च अनुभव कर सकता है अन्यथा वह एक विराट सेनिटोरियम के रूप में शीघ्र ही परिणत हो जायगा।

भाऊजी के सम्पर्क में आकर अन्यो की तरह मैं भी यह अनुभव कर पाया हूँ कि वस्तुतः मूल रोग थोड़े ही हैं जो ऋतुपरिवर्तनानुसार आते जाते रहते हैं तथा हमारे अहितकर आहार-विहारादि कि मात्रा के अनुरूप न्यूनाधिक समय तक बने रहते हैं। रोगोपचार के पूर्व लंघन सर्वोत्तम उपाय है और ‘निदान त्याग’ अर्थात् रोग-कारणों से दूर रहना Precautionery measure है। रोगविपरीत उपचारों से जब इन मामूली रोगों को दबाने की चेष्टा की जाती है, तब ये ही विभिन्न भयानक रोगों में आविर्भूत होते हैं और साथ ही औषधियों की रोगकारकता के कारण असंख्य विकृत रूपों में हमारी आयु को चरते रहते हैं। आज घर घर में जो ताराओं की भांति रोग झिलमिला रहे हैं उसकी जड़ में हमारा अहि-

॥ प्रथम आवृत्ति की प्रस्तावना ॥

श्री. दत्तरी जी मेरे परम स्नेही हैं और उन्हें मैं कई वर्षों से जानता हूँ । इस लिए उनकी बुद्धिमत्ता और विद्वत्ता से मैं भली भाँति परिचित भी हूँ । तथापि जब से वे नए ढंग का औषधोपचार करने लगे, तो प्रारम्भ में मेरा उन के इस अनूठे औषधोपचार पर अर्थात् नई चिकित्सा-पद्धति पर विश्वास नहीं जम सका । मैं तो यही मानता रह कि पुरानी चिकित्सा पद्धति में दोष हो नहीं सकता; दत्तरी जी की हो नई चिकित्सा-पद्धति सदोष हो सकती है ।

सन् १९२६ की बात है । मैं उन दिनों श्री. दत्तरी जी से चिकित्सा-पद्धति पर कईबार चर्चा करता रहा, लेकिन चिकित्सा शास्त्र से अनभिज्ञ होने के कारण किसी निर्णय पर नहीं पहुँच सका । तथापि मैंने यह निश्चय अवश्य किया कि प्रचलित पुरानी चिकित्सा-पद्धति के औषधोपचार से जिन आत्मीय जनों को विशेष लाभ नहीं हुआ है, उनमें से एक दो को तो भी नई चिकित्सा के समर्थक श्री. दत्तरी की औषधि दिलवा कर देखा जाय कि उनकी नई चिकित्सा-पद्धति कहां तक सफल है । मेरे ककेरे छोटे भाई बालकृष्ण को सत्रह साल से खांस की बीमारी परेशान कर रही थी; ठंड के दिनों में उसे और भी ज्यादा तकलीफ होती थी; उसने उस बीमारी पर वैद्यकीय उपचार भी अनेकों बार किए थे, लेकिन फायदा कुछ हुआ नहीं था । अतः मैंने उसे श्री. दत्तरीजी का औषधोपचार शुरू करवाया । उन्होंने रोगोन्मूलन के लिए दो वर्ष की अवधि मांगी । मजा यह कि चिकित्सा और औषधोपचार अधिकतर पत्र-व्यवहार से ही होता रहा । तथापि श्री दत्तरीजी ने कहे अनुसार उसकी बीमारी दो साल के अन्दर ही निर्मूल कर दी । तब से आज तक वह पूर्ण स्वास्थ्य का अनुभव कर रहा है । सत्रह साल की बीमारी दो साल में ही क्यों न सही, पूर्णतः अच्छी कर दी, इस बात का मेरे मन पर बड़ा ही गहरा प्रभाव पड़ा ।

मैं भी पेट दर्द का रोगी था और वह भी बहुत पुराना। चि. बालकृष्ण को पूर्णतः रोग-मुक्त देख मुझे भी औषधि-सेवन की इच्छा हुई। चावल खाने से ज्यादा पेट दर्द होता था इसलिए मैंने पन्द्रह साल से चावल खाना बंद कर दिया था; तथापि पेट दर्द से अपना पिण्ड न छुड़ा सका था। लेकिन खट्टी चीज खाने से भी यह बीमारी ज्यादा बढ़ती है, यह बात पहिलीबार मैंने दफ्तरी जी से ही सीखी और सचमुच उनके औषधोच्चार के साथ यथोक्त पथ्य पालन करता हुआ चार छः माह के अन्दर ही मुझे बहुत कुछ आराम मिला। अब एकाध बार चावल या खट्टी चीज भी खा लेता था तथापि पेट दर्द नहीं सताता था अतः श्री. दफ्तरीजी ने नियमित रूप से कुछ दिन तक चावल खाते रहने को कहा। लेकिन वैसा करने से वह बीमारी फिर से तकलीफ देने लगी; फिर से उनकी दवा शुरू की और मुझे फायदा भी हुआ। तथापि बहुत दिनों से उनका औषधोपचार ग्रहण करता हुआ मैं अब ऊब गया और दूसरी ही दवा लेने के लिए उत्सुक हो उठा। फिर से आयुर्वेदिक औषधि शुरू की; लेकिन देख रहा हूँ, कुछ भी फायदा नहीं हो रहा है।

इसी बीच मेरे एक परम स्नेही श्री. टी. वा. रामचन्द्रराव बीमार पड़े। उन्हें पहिले इक्तरा बुखार आता था। विषनीन इन्जेक्शन से वह जाता रहा। लेकिन उसके बाद तुरन्त उनके मुँह में छाले हो गए और उन्हें पतले दस्त की बीमारी शुरू हुई। सिवा दूध के उन्हें कुछ भी हजम नहीं होता था। एलोपैथिक उपचार से कुछ फायदा न देखकर वे कलकत्ता गए और वहां कविराज से दवा ली। लेकिन उससे भी कुछ फायदा हुआ नहीं। श्री दफ्तरीजी के औषधोपचार से चि. बालकृष्ण को फायदा हुआ सुनकर वे उनके पास पहुँचे। और उन्होंने अपनी बीमारी का सारा हाल सुनाया। इसपर श्री. दफ्तरीजी ने कहा कि विषनीन खाने से नया रोग पैदा हुआ और पुरानी बीमारी दब गई है अर्थात् हमारी दवा खाने पर आपका यह नया रोग पहिले अच्छा हो जायगा बाद में फिर से वही पुरानी बीमारी (इक्तरा बुखार) शुरू होगी। लेकिन

यदि आप मेरी औषधि धैर्य पूर्वक लेते रहेंगे, तो वह इकतरा बुखार भी जाता रहेगा। अतः यदि आप में धैर्य है, तो मेरी दवा ले सकते हैं और इसके लिए आपको नागपूर में दुरुस्त होते तक रहना होगा। इसपर श्री. रामचन्द्रराव यद्यपि नागपूर में रहने के लिए तैयार नहीं हुए तथापि उन्होंने यह विश्वास दिलाया कि हम पुरानी बीमारी प्रकट होनेपर भी इधर-उधर की दवा नहीं लेंगे और आपको वैसा सूचित करेंगे। अस्तु औषधोपचार से कुछ ही दिनों में उनके मुह के छाले अच्छे हो गए और दस्त की बीमारी भी अच्छी हो गई। लेकिन जब वे लाहोर में थे वहां पर एकाएक उन्हें पहिले की बीमारी [इकतरा बुखार] ने जोरों से जकड़ा। तत्काल टेलिग्राम से श्री. दत्तरीजी को सूचना दी गई। उन्होंने भी टेलिग्राम से लिखकर भेजा—घबड़ाओ मत, लंघन करो, अच्छे हो जाओगे।” बात भी सही निकली। तब से श्री. रामचन्द्रराव पूर्ण स्वास्थ्य का अनुभव कर रहे हैं।

इस प्रकार अन्यान्य अवसरों पर भी ऐसे ही चमत्कार—भरे अनुभव प्राप्त कर, श्री. दत्तरीजी लिखित “चिकित्सा परीक्षण” एवं “रहस्य-वर्णन” पढ़कर तथा उनके साथ बार-बार यथावसर चर्चा कर मुझे यह असंदिग्ध रूप से अनुभव हुआ कि श्री. दत्तरीजी द्वारा पुरस्कृत नई चिकित्सा-पद्धति में निश्चय ही रोगोन्मूलक शक्ति है और यह सर्वथा उचित ही है कि वे औषधि-सेवन पर विशेष बल नहीं देते जितना कि पथ्य-पालन पर। ग्रंथों में किया गया चिकित्सा-विश्लेषण सर्वथा तर्क संगत है। मेरा तो यह आग्रह पूर्वक कहना है कि चिकित्सा तज्ञ और पढ़े-लिखे लोग भी श्री. दत्तरीजी के उन ग्रंथों को अच्छी तरह पढ़ें; उनके द्वारा पुरस्कृत चिकित्सा-पद्धति पर गौर करें और यदि श्री. दत्तरीजी की बातें सही जँचती हैं तो आमल में भी लाने का प्रयत्न करें।

उपोद्धात

आज अपढ़ सपढ़ सभी जान गए हैं कि रोग-वृद्धि दिन-पर-दिन अधिकाधिक होती जा रही है और इस पर रोगी रोग-निवारण के लिए पूर्वाधिक प्रयत्न करता हुआ भी अपनी हताश आंखों से रोगों को बढ़ती हुई मात्रा में ही देख रहा है। इस प्रकार भारत की अन्यान्य समस्याओं के समान स्वास्थ्य-समस्या भी एक चिन्ता की वस्तु बन बैठी है। यद्यपि सामान्य जनता का ध्यान हम समस्या की ओर गया नहीं है, तथापि इससे कुछ उस समस्या की भयंकरता नष्ट होने वाली नहीं है। यह शाश्वत सत्य है कि स्वास्थ्य-होन व्यक्ति जीवन में कुछ भी नहीं कर सकता यहां तक कि हमारा नवोदित भारत अपनी बढ़ती हुई रुग्णता के कारण अपने नवोपलब्ध स्वातंत्र्य को भी टिका न सकेगा। अतः स्वास्थ्य-समस्या को गौण समझ कर उसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती।

इस समस्या को हल करने के लिए प्रकृति-निर्दिष्ट उपायों का अवलम्बन करना जरूरी है। क्योंकि प्रकृति-निर्दिष्ट उपायों का अवलम्बन ही सच्ची चिकित्सा है और उसीसे वास्तविक स्वास्थ्य-लाभ एवं सुख-शान्ति प्राप्त हो सकती है। अतः सभी को स्वास्थ्य-सुख प्रदान करने की भावना से हम यह “सच्चिकित्सा-प्रकाशिका।” ग्रंथ लिखकर उसके प्रकाशन की चेष्टा कर रहे हैं।

परन्तु आपकी यह चेष्टा निरर्थक है, ऐसा हम पर आक्षेप किया जाता है क्योंकि आयुर्वेद, एलंप्पेथी, हेड्रोपेथी, क्रोमोपेथी, होमिओपेथी, आरग्यानोथिरापी आदि अनेकों चिकित्सा-पद्धतियों द्वारा रोगियों के रोगापहरण सम्बन्धी जो विविध प्रयत्न किए जा रहे हैं, उनकी विद्यमानता में हमारा यह अभिनव प्रयत्न आक्षेपकों को निरर्थक-सा लगता है। अतः उस पर भी कुछ कहना जरूरी है। एक पुरानी कथा है वह इस प्रकार है —

एक सियार और एक बिड़ाल दोनों मित्र थे। वे एक दिन जंगल में से चले जा रहे थे। दोनों को व्याघ्र से बड़ा भय था। सियार ने कहा, “मित्र ! मुझे तो व्याघ्र से बचाव करने के अनेकों उपाय ज्ञात हैं, लेकिन तेरा कैसे होगा ?” बिड़ाल बोला, “हां, मित्र ! मुझे तो पेड़ पर चढ़ना यही एक उपाय मालूम है, फिर मेरा कैसे होगा ?” इस तरह दोनों चिंता प्रकट करते हुए चले जा रहे थे, त्योंही वहां व्याघ्र आ पहुंचा। दोनों घबड़ाए। सियार को अनेकों उपायों में से उस समय एक भी उपाय नहीं सूझा, वह वहीं का वहीं अपने में सिकुड़ा हुआ खड़ा रहा। इसलिए व्याघ्र उसे खा गया और बिड़ाल जो एक ही उपाय जानता था, उसीसे अपनी जान बचा सका।

उक्त कथा के सियार की भांति ही आज सभी रोगियों की दुर्दशा हो रही है। आज की प्रचलित अनेकानेक चिकित्सा-पद्धतियों में रोगोन्मूलन करने वाली कौन सी चिकित्सा-पद्धति है, यह समझ में न आने के कारण रोगी हतबुद्ध हो जाते हैं और पागलों की नाईं दौड़-धूप करते हुए कुछ का कुछ कर बैठते हैं फलतः “माया मिलो न राम” जैसी उनकी हालत हो जाती है। तात्पर्य चिकित्सा-पद्धतियों की अनेकता यद्यपि आज भ्रम से बरदान समझ ली गई है, तथापि वह अभिशाप ही है।

रोगी ही दुर्दशा का अनुभव करते हैं, ऐसी भी बात नहीं है; अपितु मौका आने पर वैद्य, हकीम, डाक्टर सभी की रोगी की-सी ही हालत हो जाती है। जब उनके घर का कोई आदमी बीमार पड़ता है, तो वैद्य हकीम या डॉक्टर की शरण जाता है; हकीम, वैद्य या डाक्टर को बुला लाता है और डाक्टर वैद्य या हकीम को सर्वश्रम समझ बैठता है। इस प्रकार समय आने पर कोई भी चिकित्सक अपनी अपनी पेथी पर विश्वास ही नहीं कर पाता। तात्पर्य, रोगी और चिकित्सक दोनों की बुद्धि चिकित्सा-पद्धति की अनेकता के कारण भ्रमिष्ठ हो गई है।

इसी कारण आज निश्चयात्मक रूप से एक ही उपाय बतलाना अनिवार्य हो गया है। और इसीलिए हमारा यह नूतन प्रयास है। हमारे इस नूतन प्रयास का प्रथम फल “चिकित्सा-परीक्षण” नामक ग्रंथ है। इसे हमने सन् १९२३ में ही गरमी के दिनों में पूरा लिख डाला था। लेकिन तब से आज तक उसे प्रकाशन का सौभाग्य प्राप्त नहीं हुआ। उस ग्रंथ के प्रारंभ में हमने प्रकृति-निर्दिष्ट उपाय या नियम कौनसा है, यह सप्रमाण सिद्ध कर, उस नियम के आधार पर आज की प्रचलित आठों चिकित्सा-पद्धतियों के गुण-दोषों की विवेचना की है और उसका सारांश उसी ग्रंथ के अन्त में निम्न प्रकार दिया है—होमिओपैथी और बायोकेमिस्ट्री के अतिरिक्त अन्य सभी चिकित्सा-पद्धतियाँ अपूर्ण हैं—कुछ चिकित्सा-पद्धतियाँ थोड़े ही रोगों को अच्छा करनेवाली, कुछ चिकित्सा-पद्धतियाँ थोड़े ही रोगियों को दुरुस्त करनेवाली, कुछ चिकित्सा-पद्धतियाँ रोग-कारण दूर करनेवाली, और कुछ चिकित्सा-पद्धतियाँ रोग को ज्यादा बढ़ने न देनेवाली अर्थात् विपरीत चिकित्सावाली या अन्य रोगोत्पादन करनेवाली हैं। इन चिकित्सा-पद्धतियों में समचिकित्सा-पद्धति (Homoeopathy या विपरीतार्थकारी चिकित्सा-पद्धति) का जितना भी आश्रय लिया जायगा, या रोग-कारण दूर करने में जितना भी उसका उपयोग किया जायगा, वहाँ तक तो वे सभी चिकित्सा-पद्धतियाँ सिद्धि-दायक रहेंगी ही।” इस सारांश के अनन्तर ही उसमें हमने समचिकित्सा या सच्चिकित्सा के तत्त्वों को भी थोड़े में निम्न प्रकार समझाया है—“रोगोन्मूलन के लिए (i) रोग-कारण नष्ट करने चाहिए। लेकिन इतने से ही कार्य-सिद्धि होती नहीं है। (ii) समचिकित्सा-पद्धति से ही रोग-चिकित्सा या औषधोपचार करना चाहिए। [iii] कभी कभी विपरीत चिकित्सा (Antipathy) का भी अवलम्बन करना पड़ता है और वह भी पहिले तत्त्व के अनुसार मारक रोग के कारण को नष्ट करने के लिए “प्रतिक्रिया के पहिले नियम” के अनुसार जिस प्रमाण में प्रतिक्रिया होगी उतने ही अल्प प्रमाण में वह विपरीत चिकित्सा करनी पड़ती है। (iv)

समचिकित्सा करने के लिए चाहे जिस पदार्थ या शक्ति का उपयोग हो सकता है। तथापि नाना पदार्थों के जाल में बुद्धि के उलझ जाने की सम्भावना से समचिकित्सा-पद्धति में एकमात्र शरीर-घटक द्रव्यों का ही उपयोग करना इष्ट है। विद्युत् विरण आदि शक्ति का भी उपयोग समचिकित्सा पद्धति से ही किया जाना चाहिए। और उसके लिए उसके सिद्धि-चिन्ह (नीरोगी मनुष्य में उत्पन्न होनेवाले चिन्ह) भी देखने होंगे।”

उपर्युक्त उद्धरणों से पाठक यह अनुभव करेंगे कि “चिकित्सा-परीक्षण” के अध्ययन से प्रचलित चिकित्सा-पद्धतियों के गुण दोष समझ में आ सकते हैं और समचिकित्सा-पद्धति के तत्त्व भी पूर्णरूप से ज्ञात हो सकते हैं। लेकिन उसके आधार पर कोई सफल चिकित्सक (अर्थात् समचिकित्सा का) नहीं बन सकेगा। क्योंकि उस ग्रंथ में चिकित्सा के सभी आवश्यक तत्त्वों का विस्तार के साथ वर्णन नहीं है। अतः हम ऐसे ग्रंथ-निर्माण की आवश्यकता प्रतीत हुई कि जिसके अध्ययन से सामान्य जनता भी सच्चिकित्सा ठीक तरह कर सके। इसीलिए हमने “सच्चिकित्सा-प्रकाशिका” नामक ग्रंथ लिखकर उसके प्रकाशन का कार्यभार अपने सिर पर उठा लिया है।

उक्त ग्रंथ दो खण्डों में विभक्त किया गया है; प्रथम खण्ड के “रहस्य वर्णन” और “रुग्ण-परीक्षण” नामक दो भाग हैं और दूसरे खण्ड में जन-सामान्य रोगों का वर्णन और उनकी चिकित्सा दी गई है। हमने यह भी एक योजना कर के रखी थी कि तीसरे खण्ड में औषधि गुणादर्श और चौथे खण्ड में चिन्ह-कोष प्रस्तुत किए जाएँ। लेकिन हम विवश हैं, हमसे अब यह योजना सम्पन्न नहीं हो सकती।

उक्त ग्रंथ के दो रचयिता हैं। प्रत्येक खण्ड में उस उस के लेखक का नाम दिया ही गया है। दोनों ने एक दूसरे की रचना को पदकर

उसे अपनी स्वीकृति दे दी है अतः समस्त ग्रंथ की शुद्धता एवं निर्दोषता निर्विवाद है ।

“चिकित्सा-परीक्षण” अब तक प्रकाशित न हो सका, इसलिए “रहस्य-वर्णन” में चिकित्सा के मूल तत्त्व और आवश्यक सभी सिद्धान्त समझाकर बतलाए गए हैं । चिकित्सा करते समय आनेवाली कठिनाइयों के निराकरण का मार्ग भी विस्तार के साथ समझा दिया गया है और स्वास्थ्य-रक्षा की दृष्टि से यथोचित आहार-विहार का निर्देश करते हुए अन्त में साध्यासाध्य विचार पर भी पूर्ण प्रकाश डाला गया है ।

“रुग्ण-परीक्षण” में उन्हीं रीतियों का अर्थात् प्रश्न, दर्शन, स्पर्शन, आघात, श्रवण आदि रीतियों का वर्णन किया गया है जिनका कि सहज उपयोग हो सकता है । जिन रीतियों के अवलम्बन में कीमती यन्त्र-सामग्री आवश्यक है और जिनमें कौशल-प्राप्ति के लिए काफी समय और भ्रम की जरूरत है, ऐसी रीतियों का जानबूझ कर उल्लेख नहीं किया गया है तथापि उसमें जितनी भी रीतियां दी गई हैं, उनसे मालूम होनेवाले चिन्हों से कौन-सा रोग कहाँ है, यह अवश्य ही समझ में आ जावेगा । यद्यपि उनसे रोगी का भविष्य और योजनीय औषधि की तीक्ष्णता जानने के लिए आवश्यक उतना ज्ञान न भी प्राप्त हुआ, तथापि तात्कालिक औषधि-योजना के लिए आवश्यक उतने चिन्ह अवश्य ही प्राप्त हो सकेंगे ।

तात्पर्य पाठक प्रथम खण्ड पढ़कर निम्न बातें जान सकेगा (i) रोग-ग्रस्त न होने का सच्चा मार्ग (ii) शरीर के रोग-ग्रस्त होने पर उसे रोग-रहित बनाने का प्रकृति-निर्दिष्ट “एकमेवाद्वितीयम्” अचूक मार्ग (iii) झूठी चिकित्सा अर्थात् असच्चिकित्सा के लक्षण (iv) अन्यत्र दुर्लभ तथा एकत्रित की हुई सच्चिकित्सा के आवश्यक सभी तत्त्वों की पूर्ण जानकारी और (v) अन्त में रुग्ण-परीक्षण की रीतियां ।

इस पर से दिखाई देगा कि अकेला एक यह प्रथम खण्ड ही सच्चिकित्सा को या चिकित्सक बनने की इच्छा रखनेवाले को अतीव उपयोगी है। इस प्रथम खण्ड के अतिरिक्त क्वचित् ही किसी अन्य ग्रंथ से सच्चिकित्सा का सही ज्ञान प्राप्त हो सकेगा। किसी अंग्रेजी ग्रन्थ से प्राप्त करना तो टेढ़ी खीर ही हैं।

सामान्य जनता के लिए भी प्रथम खण्ड का यह पूर्वार्ध अर्थात् “रहस्य वर्णन” अत्यधिक लाभकारी है। उसे इस पुस्तक के अध्ययन से नोरोगी जीवन बिताने का सच्चा मार्ग ज्ञात होगा। वह या अन्य कोई भी घर का आदमी बीमार पड़ने पर किस चिकित्सक का आश्रय लेना चाहिए, यह भी उसकी समझ में आ जायेगा। वह निश्चयपूर्वक विपरीतार्थकारी चिकित्सा (Homoeopathy) करनेवाले चिकित्सक का ही औषधोपचार ग्रहण करेगा। सच्ची चिकित्सा के तत्त्वों की दृष्टि से आयुर्वेद, एलोपैथी, क्रोमोपैथी, हेड्रोपैथी, आदि चिकित्सा-पद्धतियों में जो दोष हैं, उनका उल्लेख “चिकित्सा-परीक्षण” में हो जाने के कारण हमने इस प्रथम खण्ड के पूर्वार्ध में उसकी पुनरावृत्ति नहीं की। तथापि इस प्रथम खण्ड से ही किसी भी चिकित्सा को ओर किस दृष्टि से देखना चाहिए इसका ज्ञान अवश्य ही प्राप्त हो जायेगा। और जब किसी भी चिकित्सा से दुरुस्त किया गया रोग बार बार प्रकट होता हुआ, या एक रोग के दुरुस्त होने पर दूसरा रोग उत्पन्न होता हुआ दिखाई देगा, तो वह दवाई चूक थी, सच्ची नहीं थी, यह समझने की शक्ति इस प्रथम खण्ड के पूर्वार्ध से ही एक सामान्य मनुष्य को प्राप्त हो सकेगी। इसलिए चिकित्सक और सामान्य मनुष्य दोनों को भी प्रथम खण्ड पूर्वार्ध का अध्ययन करना आवश्यक है। यही इस खण्ड की विशेषता है और शेष खण्ड एकमात्र चिकित्सक के ही काम के हैं।

होमियोपैथिक वैद्यों को इस प्रथम खण्ड के अध्ययन से यह ज्ञात होगा कि (i) जिन विपरीत चिकित्साओं या शस्त्र-क्रियाओं को वे त्याज्य

समझते हैं उनका कब और किस हालत में उपयोग करना चाहिए (ii) होमियोपैथी की असंख्य प्रायः औषधियों में जो रोगी के लिए गुणकारी है, उसके चुनाव में उत्पन्न होनेवाली अड़चन कैसे दूर करना चाहिए और (iii) हनिमान को भी होमियोपैथी में जो एक दोष दिखाई दिया, उसका भी किस तरह निराकरण करना चाहिए आदि बातों से वह भली भाँति परिचित हो जायेगा। हनिमान को जो दोष दिखाई दिया था, उसका उन्होंने निम्न प्रकार उल्लेख किया है—

Yet there is no Homoeopathic remedy, however suitably chosen, which may not in course of its action on a very excitable and sensitive patient, cause at least one, probably very trifling unwanted disturbance, a little new symptom. For it is almost impossible that medicine and disease should cover each other in their entirety, as exactly as two triangles with equal angles and equal sides cover each other. (Organon. Note to para 131 in the first edition of Organon.)

यथोचित ढंग से होमियोपैथिक औषधि का चुनाव करने पर भी, उसकी रोग दूरस्त करने की क्रिया की विद्यमानता में किसी एक नाजूक बीमार में कोई एकाध तो भी नगण्य विकृति अर्थात् मामूली कोई नया रोग-चिन्ह उस औषधि से उत्पन्न होगा ही नहीं, ऐसी कोई बात नहीं। क्योंकि समसमान दो त्रिभुज एक दूसरे पर रखने पर जिस प्रकार वे परस्पर एकरूप हो जाते हैं, उसी प्रकार औषधि और रोग-चिन्हों का पारस्परिक मेल या सम्मिलन लगभग असंभव है।”

हनिमान ने यह जो अनुभव किया, उसके कारणों पर विचार करने से उस अनुभव की जड़ में मुख्यतः दो कारण दिखाई दिए एक तो उसके द्वारा प्रयुक्त औषधियां शरीर-घटकों का मिश्रण थीं और दूसरे वे शरीर-घटकों से अनिवार्यतः भिन्न थीं। अर्थात् रोगों को जिन शरीर-घटकों की आवश्यकता रहती थी, उनके अतिरिक्त एकाध कोई ज्यादा शरीर-घटक या अन्य कोई द्रव्य हनिमान की ओर से रोगी को दे दिया जाता था। इस कारण रोगी के रोग-चिन्हों का औषधि-चिन्हों से पूर्णतः मेल हो नहीं पाता था। परिणाम स्वरूप रोगी के रोग के कम हो जाने पर भी कोई तो भी नये रोग-चिन्ह उत्पन्न होते थे।

इस दोष को दूर करना होमियोपैथिक वैद्यों का कर्तव्य ही है। और इस प्रथम खण्ड के पूर्वार्ध “रहस्य-वर्णन” को पढ़कर उनका यह निश्चय हो जायेगा कि शरीर-घटक द्रव्यों की चिकित्सा में पृथक्, पृथक् योजना करने से ही उपर्युक्त दोष का निवारण हो सकता है। हनिमान यदि आज जीवित रहते, तो वे खुशी से इस बात को स्वीकार लेते, ऐसा उनके दिए उद्धरण से ज्ञात होता है। इस उपाय के अवलम्बन से होमियोपैथी ज्यादा सरल और शुद्ध रहेगी तथा अच्छे काम दे सकेगी। उसका प्रसार भी निश्चयपूर्वक अधिकाधिक होगा, इसमें रंचमात्र संशय नहीं।

अब इस ग्रंथ में वर्णित सच्चिकित्सा-पद्धति के अवलम्बन से क्या क्या लाभ हैं, यह भी बताना जरूरी है। (i) इस चिकित्सा-पद्धति के अवलम्बन से रोगों की तीव्रता कम होकर वे बहुत ही जल्दी निर्मूल हो जाते हैं। इसलिए बीमार भी कभी कभी यह अनुभव नहीं कर पाता कि वैद्यने उसकी बड़ी भारी खतरनाक बीमारी अच्छी की। रोगियों की मृत्युसंख्या भी इससे कम हो जाती है। “Logic of Figures” नामक पुस्तक के २४ वे पृष्ठ पर डा. राऊथ ने जो १८५३ की संख्या दी है, उससे उपर्युक्त कथन की सच्चाई ज्ञात हो जायेगी। डॉ. राऊथ ने

होमियोपैथिक औषधोपचार करनेवाले ३२६५५ रोगियोंकी एलोपैथिक औषधोपचार करनेवाले उतने ही रोगियों के साथ निम्न प्रकार तुलना की है —

फुफफुसदाहज्वर (Pneumonia) को अच्छा होने के लिए लगनेवाला कम से कम समय

होमियोपैथिक चिकित्सा में.....	११	दिन
एलोपैथिक ,,	२९	,,
कोई दवा न लेने पर	२०	,,

इससे यह स्पष्ट दिखाई देता है कि एलोपैथिक चिकित्सा से बीमारी की मियाद बढ़ गई और होमियोपैथिक चिकित्सा से घट गई हैं ।

सौ बीमारों में मृत्युका प्रमाण—

	होमियोपैथी में	एलोपैथी में
फुफफुसदाहज्वर	५.७	२४.०
फुफफुसावरण दाह	३.०	१३.०
उदरावरण दाह	४.०	१३.०
आंवरक्त के दस्त	३.०	२२.०
अन्यान्य रोग	४४	१०.५

डॉ. राऊथ एलोपैथी के पुरस्कर्ता थे । अतः उन्होंने कहा कि होमियोपैथिक चिकित्सा में शुरु से ही सौम्य बीमारियों के मरीज आये होंगे परन्तु यह सम्भव नहीं कि ६५ हजार बीमारों में से केवल सौम्य बीमारियों के ही मरीजों ने होमियोपैथिक औषधोपचार किया होगा और शेष उग्र एवं तीव्र बीमारियों के मरीजों ने एलोपैथिक औषधोपचार ग्रहण किया होगा । असल बात यह है कि होमियोपैथिक चिकित्सा रोगों की तीव्रता को ही नष्ट कर देती है अतः वे रोग सौम्य मालूम पड़ते हैं ।

इसे सिद्ध करने के लिए अंकगणना की भी वस्तुतः आवश्यकता नहीं है क्योंकि होमियोपैथिक चिकित्सा ही एकमात्र सच्ची चिकित्सा है, यह मिट्ट हो जाने पर यह स्वयमेव प्रमाणित हो जाता है कि उस चिकित्सा से रोग की तीव्रता नष्ट हो जाती है। रोग अच्छा हो जाता है और मृत्यु टलती है। जिज्ञासा की दृष्टि से ही उपर्युक्त तालिका दी गई है।

(ii) नियत समय को (मियादवाली) बीमारियां भी समय के पहिले अच्छी हो जाती हैं, यह फुफफुसदाहज्वर के बीमारों की जो ऊपर सख्या दी है, उससे स्पष्ट हो जाता है। मंथर ज्वर में यह मुह्त थोड़ी बहुत घटी हुई दिखाई देती है। परन्तु ४००, हजार या लाख आदि उच्च मर्दन की औषधि से बीमारी की मुह्त कम हुई है, यह साफ साफ नजर आता है। उच्च मर्दन से किसी भी रोगी को शुरू शुरू में थोडा बहुत सुसह्य कष्ट होता है लेकिन रोगी बहुत जल्दी रोगमुक्त हो जाता है या उसकी मृत्यु तो भी टल जाती है।

(iii) सच्ची चिकित्सा से कोई दूसरा रोग पैदा न होकर प्रस्तुत रोग दुरुस्त हो जाता है। क्वीनीन खाने से जैसे बुखार जाता है लेकिन सिरदर्द या अग्निमांद्य प्राप्त होता है, वैसा प्रकार सच्ची चिकित्सा में कदापि नहीं होगा। यह इस चिकित्सा की सबसे बड़ा विशेषता है। झूठी चिकित्सा से दबी हुई बीमारियां भी इस चिकित्सा से पुनः प्रकट होती हैं और उन्मूल हो जाती हैं ! सच्ची चिकित्सा का यह सब से बड़ा गुण है।

(iv) क्षयादि दीर्घ जीवी व्याधियां इस चिकित्सा से धीरे धीरे बहुत करके अच्छी हो जाती हैं। अन्य चिकित्साओं से वे दुरुस्त हो ही नहीं सकतीं।

(v) सच्ची चिकित्सा में रोग-विशेष से एक बार मुक्ति पाकर पुनः उसी रोग से कोई मनुष्य पीड़ित नहीं होगा।

(vi) सच्ची चिकित्सा में रोग को न बढ़ानेवाला यथावश्यक पोषक भोजन मरीज को देने की सावधानी रखी जाती है। इसलिए पथ्याहार से मरीज कमजोर होता नहीं और बीमारी के कारण नष्ट होनेवाली उसकी ताकत उसे फिरसे जल्दी प्राप्त हो जाती है।

(vii) इस ग्रंथ में वर्णित सच्ची चिकित्सा-पद्धति का अवलम्बन करने से बहुत कम खर्च होता है और मरीज बिना किसी दूसरे रोग का अनुभव किए सदैव के लिए रोग-विशेष से मुक्त हो जाने के कारण अपने समय और धन की बहुत अधिक बचत कर सकता है। दूसरी बात यह कि इस चिकित्सा में स्वल्प समय और स्वल्प धन में ही कुशल वैद्य तैयार किए जा सकते हैं। इस चिकित्सा के आवश्यक उपकरण भी बहुत थोड़े और कम खर्च के हैं। यही कारण है कि ग्रामवासी भी बड़े ही सुख से और मजे से इस चिकित्सा को अंमल में लाकर तज्जन्य सुफलों का उपभोग कर सकते हैं। इस चिकित्सा में प्रयुक्त औषधियां भी अपने देश में आसानी से तैयार की जा सकती हैं।

इस ग्रंथ में वर्णित सच्ची चिकित्सा का औषधोपचार जो जो ग्रहण करता रहेगा, वह यह अवश्य ही अनुभव करेगा कि इस सच्ची चिकित्सा में उक्त सभी गुण विद्यमान हैं।

इस विस्तृत प्रस्तावना को पढ़कर पाठक यह अवश्य ही अनुभव करेंगे कि प्रत्येक चिकित्सक तथा प्रत्येक मनुष्य के लिए इस प्रथम खण्ड पूर्वार्ध का अध्ययन करना जरूरी है। इस प्रकार भारत की स्वास्थ्य-समस्या को सुलझाने में यह पुस्तक नितान्त उपादेय है। इसलिए स्वास्थ्य मंत्रियों को भी चाहिए कि वे इस पुस्तक को तथा भविष्य में बहुत जल्दी प्रकाशित होनेवाले “चिकित्सा परीक्षण” नामक ग्रंथ के अंग्रेजी अनुवाद को पढ़ें और तत्क्षत् जनता का मार्ग-दर्शन करें। इतनी ही प्रस्तावना पर्याप्त है।

रहस्य-वर्णन

दूसरी आवृत्ति की उपक्रमणिका

“रहस्य-वर्णन” प्रथमावृत्ति अनुपलब्ध हो जाने के कारण द्वितीयावृत्ति का मुद्रण क्रमप्राप्त है। परन्तु द्रव्याभाव से वैसा हम कर न सके। मध्यप्रदेश के भूतपूर्व स्वास्थ्य-मंत्री श्री. दादासाहेब बालिंगे के सत्प्रयत्नों से सरकार ने उक्त कार्य के लिए ५०० रु. की रकम दी जिसके परिणामस्वरूप इस द्वितीयावृत्ति का मुद्रण सम्भव हो सका। इस सम्बन्ध में हम डा. दादासाहेब बालिंगे के अतीव आभारी हैं।

संशोधित रूप में ही द्वितीयावृत्ति प्रस्तुत करना स्वाभाविक था अतः संशोधन निम्न प्रकार किया गया है—

(i) प्रथमावृत्ति में जीवद-द्रव्यों (Vitamins) की जानकारी बहुत थोड़ी दी गई थी। इसलिए इस आवृत्ति में वह यथोचित बढ़ा दी गई है। लेकिन चूंकि जीवद-द्रव्यों का ज्ञान दिन पर दिन बढ़ता ही जा रहा है, इसलिए उनकी जानकारी विस्तारपूर्ण दी जाने पर भी वह अपूर्ण ही रहेगी। तथापि यह एक बात हम ध्यान में रखें कि धान और तुवर की दाल को उनका कठिन छिलका निकालकर न पकाकर खाते रहने से तथा पथ्य की हरी शाक सब्जी, घी, दूध आदि का पर्याप्त मात्रा में सेवन करते रहने से हममें किसी भी जीवन-द्रव्य का अभाव नहीं रह पायेगा। इस बात को वैद्य और रोगी कण्ठस्थ ही कर ले, तो लाभ ही होगा।

(ii) प्रथमावृत्ति में दोषचिन्ह अव्यवस्थित और अपर्याप्त लिखे गये थे, इसमें उन्हें व्यवस्थित एवं विस्तृत रूप दिया गया है।

हमें आशा है, उनके अध्ययन से पाठकों को विशेष लाभ होगा। जो दोष-चिन्ह प्रदर्शित हैं, उनके सम्बन्ध में संदिग्धता समझ कर सावधानी से काम लिया जाना चाहिए।

(iii) पाठक यह भी ध्यान में रखें कि प्रथमावृत्ति में औषधियों के उतार के सम्बन्ध में जो लिखा गया था, उसमें नवीन अनुभव के आधार पर यथावश्यक परिवर्तन किया गया है।

(iv) प्रथमावृत्ति में चिकित्सा-परीक्षण से उद्धरण दिया गया था। क्योंकि उस समय तक वह मुद्रित नहीं हो सका था। लेकिन अब उसका संशोधित अंग्रेजी रूपांतर *The Bodily Re-action and Examination of System of Therapentics* के नाम से मुद्रित एवं प्रकाशित हो चुका है। अतः उसके उद्धरण को द्वितीयावृत्ति में से हमने हटा दिया है। जो उस ग्रंथ को पढ़ना चाहते हैं, वे निम्न पते से बुला सकते हैं— Hind Kitab 261-263, Hornby Road, Fort, Bombay अथवा Dr K. L. Daftari, Mahal, Nagpur M. P.। इस ग्रंथ के अध्ययन से “रहस्य वर्णन” में वर्णित सिद्धांतों की निर्विवादता एवं उनका स्वरूप भी यथार्थतः ज्ञात हो जाता है और सभी चिकित्सा-पद्धतियों के गुण-दोष भी समझ में आ जाते हैं।

उपर्युक्त संशोधनों के अतिरिक्त इस आवृत्ति में और भी कई स्थानों पर परिवर्तन किए गए हैं, उद्देश्य यह कि यह आवृत्ति अधिक से अधिक निर्दोष एवं पूर्ण रूप में पाठकों के हाथ लगे। “सच्चिकित्सा प्रकाशिका” के तीसरे और चौथे खण्ड अर्थात् औषधिगुणादर्श और चिन्ह-कोष का निर्माण कार्य अधूरा ही रहेगा ऐसा लगता है। औषधि गुणादर्श का अधिक से अधिक अंश अर्थात् इध्मभूज्वालिक (Kaliphos) और मग्नज्वालिक (Mag Phos) तथा अन्य दस

औषधियों का गुणादर्श तो लिखा हुआ तैयार है । लेकिन जीवनावसान के समय की सन्निकटता और कार्य-व्यस्तता ग्रंथ-लेखन को समाप्त नहीं करने देंगी । हमें यही लगता है कि कोई तो भी उत्साही नवयुवक अपने सबल स्कन्धों पर उसकी जिम्मेदारी का भार लेगा और चिन्ह-कोष को भी हाथ में ले कर उसे प्रकाश में लायेगा ।

अन्त में यही विनय है कि सभी चिकित्सक अन्धस्वार्थ का त्याग कर उपर्युक्त सच्चिकित्सा का अवलम्बन करें और सरकार जन-हित की सच्ची भावना से प्रेरित होकर उसका प्रसार करें ।

॥ अथ श्री सच्चिकित्सा-प्रकाशिका प्रारभ्यते ॥

सुखाय सर्वलोकानां सच्चिकित्साप्रकाशिका,
लिख्यते पूणतां यातु सेश्वरस्य प्रसादतः ॥१॥
बहुशास्त्रपरिभ्रान्तचेतसां दुःखभागिनाम्,
भवत्वियं प्रज्ज्वलिता, निश्चयाय सुखाय च ॥२॥

प्रथम स्कण्ड

रहस्य-वर्णन

१ ग्रंथ का उद्देश्य

शरीर चार पुरुषार्थों धर्मार्थकाममोक्ष का साधक है। लेकिन वह रोग-मुक्त होकर ही उन चारों को प्राप्त कर सकता है। इस लिए यह जानना बहुत ही जरूरी है कि हमारा शरीर किस प्रकार नीरोग रहेगा। इसी दृष्टि से विभिन्न शास्त्रों के अनेकानेक ग्रंथों का अध्ययन, मनन करके, उनका कई वर्षों तक अनुभव करके और उनका संस्कार-परिष्कार करके बुद्धि द्वारा असंदिग्ध निश्चय हो जाने पर ही हमने यह ग्रंथ-लेखन प्रारंभ किया है।

२ शास्त्र याने सामान्य नियम

अथमतः यह समझ लेना चाहिए कि शास्त्र का स्वरूप क्या है? शास्त्र का काम है विविध अनुभवों की जड़ में वर्तमान सामान्य नियम को खोज निकालना। ऐसे सामान्य नियम को जानलेने से कोई भी काम अचूक तरीके से

किया जा सकता है और उस नियम का अन्यान्य अवसरों पर भी उपयोग हो सकता है । उदाहरणार्थ—न्यूटन ने ग्रहों की गति के मूल में वर्तमान गुरुत्वाकर्षण का नियम खोज निकाला । परिणामस्वरूप उस नियम की सहायता से चन्द्र की गति का अचूक ज्ञान प्राप्त हुआ और नेपचून नामक नए ग्रह की खोज भी हो सकी ।

३ औषधि-शास्त्र का सामान्य-नियम

तात्पर्य शास्त्र याने सामान्य नियम । अब चिकित्सा-शास्त्र का यह सामान्य नियम कौन सा ? रोशे के सेवन से रक्तपित्त दुरुस्त होता है, (वाग्भट, उत्तर-स्थान. अ. ४०, श्लोक ४८।४९) क्वीनीन से शीत ज्वर अच्छा हो जाता है, आदि जो अनुभव हैं, उसकी जड़ में सामान्य नियम कौनसा है ? यही पहिले समझना होगा । वह नियम आगे दिया गया है ।

४ पहिला नियम-विपरीतार्थकारी चिकित्सा

किसी बीमार को जो रोग है, वही रोग नीरोगी मनुष्य में जिस पदार्थ के सेवन से उत्पन्न होता है, उसी पदार्थ के सौम्य प्रयोग से बीमार का वह रोग अच्छा हो जाता है । उदाहरणार्थ-संखिया (विष) के सेवन से नीरोगी मनुष्य में हैजा पैदा होता है और उसका सौम्य प्रमाण में उपयोग करने से वह बीमारी अच्छी भी हो जाती है; बालहरा के सेवन से नीरोगी को पतले दस्त लगते हैं और उसी के सेवन से अच्छे भी हो जाते हैं । (चरक संहिता, अतिसार चिकित्सा, श्लोक २१) मद्य के अतिपान से जो रोग होते हैं, वे ही उसके नियमित, प्रमाणबद्ध सेवन से अच्छे हो जाते हैं । (वाग्भट चिकित्सा स्थान, अ. ७, श्लोक २।३) इस प्रकार के उदाहरण कई उद्धृत किए जा सकते हैं । ऊपरी तौर से देखनेवालों को असत्य-सी प्रतीत होने वाली इस नियम की उपपत्ति हमने

“ चिकित्सा-परीक्षण ” नामक स्वरचित ग्रंथ में विस्तार के साथ दी है ।
उसे पाठक पढ़ सकते हैं ।

इस नियम का उल्लेख आयुर्वेद ग्रंथ में भी स्थान-स्थान पर किया गया है । उसका एक उद्धरण निम्न प्रकार है । यह बृद्ध वाग्भट सूत्रस्थान अध्याय १२ से लिया गया है— “ औषध पुनरपि त्रिविधं । हेतुविपरीतं व्याधिविपरीतं उभयार्थकारिच । उभयार्थकारि पुनः देव—व्यपाश्रयमौषधम् । यथा छर्द्यां छर्दनं, अतिसारे ऽ नुलोमनं, मदात्यये मद्यपानं तुच्छदग्धेऽग्निं प्रतपणम् एवंविधं हि अविपरीतमेव सत् भेषजं हेतुव्याधिविपरीतमर्थं करोति ॥ ”

अर्थ-- औषधि के तीन प्रकार हैं-- हेतुविपरीत व्याधि-विपरीत, और उभयार्थकारी । उभयार्थकारी औषधि जैसे वमन पर वमनोत्पादक औषधि, अतिसारपर मलनिष्कासक औषधि, मद्योत्पन्न रोग पर मद्य, आग से जलने पर अग्नि-सेक आदि विपरीत न होने पर भी-अर्थात् बीमार के ही रोग को उत्पन्न करनेवाले होने पर भी-रोगकारण के और रोग के विपरीत परिणामजनक होते हैं । इसी लिए यह उभयार्थकारी औषधि (औषधोपचार) चरक संहिता में और वाग्भट के अष्टांग-हृदय में विपरीतार्थकारी चिकित्सा कही गई है । “चिकित्सा-परीक्षण” में हमने यह विस्तार से समझाया है कि यह उभयार्थकारी या विपरीतार्थकारी चिकित्सा ही आयुर्वेद का वास्तविक रहस्य है । और ऐसा कहने का मुख्य कारण यही है कि रोग पकने पर अर्थात् विनष्ट होने पर यदि उसके पुनराविर्भाव की आशंका मात्र है, तभी आयुर्वेद में वर्णित विपरीत चिकित्सा का अवलम्बन करने की आयुर्वेद अनुज्ञा देता है । आयुर्वेद यह नहीं कहता कि विपरीत चिकित्सा करनी ही चाहिए और वह विपरीतार्थकारी चिकित्सा करने की मनाई भी कभी नहीं करता । हमारा आयुर्वेद सम्बन्धी यह वक्तव्य भले ही गलत निकले, तथापि यह सोलह आने सत्य है कि बिना विपरीतार्थ चिकित्सा के रोग-निर्मूलन हो नहीं सकता ।

५ दूसरा नियम—विपरीत चिकित्सा

विपरीत चिकित्सा से अर्थात् रोग-चिन्ह के विपरीत चिन्ह उत्पन्न करने वाले उपचार से यद्यपि रोग का तत्काल तिरोभाव-सा दिखाई देता है, तथापि वही रोग फिरसे बहुत कर के दुगुने जोर से प्रकट होता है। चरक संहिता के चिकित्सा-स्थान अ. १० में लिखा है कि नीरोगी मनुष्य का पाखाना बंद करनेवाले किसी भी स्तंभक पदार्थ से पतले दस्त की बीमारी नष्ट नहीं हो सकती. और उससे दूसरे रोग भी उत्पन्न हो सकते हैं। यही बात डाक्टरी ग्रंथों में भी कही गई है। (Diseases of children by R. Hutchison, pages 70-73) अफीम खाने का अनुभव बहुतों को है। उससे दस्त तुरन्त रुक जाते हैं। लेकिन फिरसे दुगुने जोर से शुरू होते हैं; नीरोगी मनुष्य में दस्त पैदा करनेवाले किसी मो सारक पदार्थ के सेवन से भी मलबद्धता का रोगी अपने रोग को अपने में दृढमूल ही अनुभव करता है। उससे शौच-क्रिया तत्काल अवश्य होती है, लेकिन अन्त में मलबद्धता दुगुनी बढ़ जाती है। इस बात का उल्लेख डाक्टरी ग्रंथों में तक किया गया है (Fairall's Practice of Medicine, 1908 A D Page 711) हमारी यह बात मलस्तम्भ पर मेग्नेशिया सल्फ (Mag. sulph) या अन्य ऐसी ही औषधि खा खा कर उकताए हुए रोगी को अच्छी तरह समझ में आ सकती है। यह सभी जानते हैं कि अफीम नीरोगी मनुष्य में निद्रा पैदा करती है। परन्तु उसके सेवन से निद्रा-हीनता से पीड़ित मनुष्य निद्रा-सुख सदैव के लिए प्राप्त नहीं कर पाता। मद्य से नाड़ी की गति बढ़ती है। इस लिए जिसकी नाड़ी मंद पड़ गई है, ऐसे बीमार को एक समय मद्य दिया जाता था। लेकिन प्रत्यक्ष अनुभव से यह दिखाई दिया कि उसकी नाड़ी भले ही तत्काल वेगवती होती हो, परन्तु बाद में वह और भी ज्यादा क्षीण पड़ जाती है। हम भारतीय यह बात अच्छी तरह जानते हैं कि बुखार पर या छलसने पर स्नानादिक शीतोपचार लाभप्रद नहीं है। आयुर्वेद में जो यह कहा गया है कि

(वाग्भट, ज्वरचिकित्सा, श्लोक १८, ४३, ४४, १०३) लगातार जोरदार रहनेवाले आमज्वर पर ज्वरहारक औषधि देने से ज्वर और भी ज्यादा बढ़ता है, उसका मतलब ही यह है कि नीरोगी मनुष्य के शरीर की उष्णता कम करनेवाले औषध या उपचार लाभप्रद (ज्वर हारक) न होकर ज्वरवर्धक ही होते हैं। पेट में आम्लघ्रा (Acid) उत्पन्न होने के कारण भोजनोपरान्त लगभग तीन घंटे बीतने पर पेटदर्द शुरू होता है। उस पर सोड़ा पीने से दर्द बैठ जाता है। लेकिन हमेशा के लिए उस पेटदर्द से मुक्ति नहीं मिलती; वह दिन पर दिन बढ़ता ही जाता है; इसी लिए पेटदर्द के रोगी दिन पर दिन ज्यादा से ज्यादा सोड़ा पीने लगते हैं। इस प्रकार के तथा अन्यान्य अनुभवों के आधार पर प्रस्तुत नियम की सचाई (विपरीत चिकित्सा से रोगापहरण सम्भव नहीं, यह सचाई) सिद्ध हो जाती है।

६ चिकित्सा की सामग्री सिद्धि-चिन्ह

तात्पर्य रोग-निर्मूलन के लिए उभयार्थकारी अर्थात् विपरीतार्थकारी चिकित्सा का ही अवलम्बन करना चाहिए। इसी को आजकल सम चिकित्सा (Homoeopathy) कहने लगे हैं। क्योंकि इस चिकित्सा में बीमार के चिन्ह और औषधि से नीरोगी मनुष्य में उत्पन्न होनेवाले चिन्ह दोनों एक-जैसे समान रहते हैं। ऐसी चिकित्साके लिये पहिले नीरोगी मनुष्यको औषधि देकर उसमे नीरोगीमे उत्पन्न होनेवाले चिन्ह पूर्ण रूप से निश्चित कर लिए जाते हैं। ऐसे चिन्हों को सिद्धि-चिन्ह (Provings) कहते हैं। आयुर्वेद ग्रंथ में ऐसे सिद्धि-चिन्ह देखने को नहीं मिलते। इस लिए आयुर्वेदीय वैद्य आयुर्वेद के आधार पर समचिकित्सा कर सकेंगे, यह सम्भव नहीं है। हमें आयुर्वेद में कहने के लिए “चरक संहिता, सूत्र-स्थान अ २६, वाक्य ६३” में केवल नमक के निश्चित किए हुए कुछ सिद्धि-चिन्ह दिखाई दिए। लेकिन ये सिद्धि-चिन्ह भी हनिमान के या उनके शिष्यों के ग्रंथों में जितने दिए हुए हैं, उनसे बहुत ही कम हैं। अतः यह स्पष्ट है कि जो चिकित्सक समचिकित्सा करना चाहेगा उसे हनिमान के या उनके शिष्यों के ग्रंथों

में दिए हुए सिद्धि-चिन्हों की ही सहायता लेनी पड़ेगी। आयुर्वेदीय ग्रंथ चरक संहिता में यद्यपि समचिकित्सा बतलाई गई है, तथापि उसके बाद के सभी आयुर्वेदीय ग्रंथ स्वतंत्र अनुभव या स्वतंत्र विचारों के प्रतिपादक नहीं दिखाई देते; उन में एकमात्र पिष्ट-पेषण ही है। तात्पर्य चरकसंहिता में प्रतिपादित विचारों को आगे चालना न मिलने के कारण सिद्धि-चिन्हों की किसी को जरूरत हो मालूम नहीं दी। यही कारण है आयुर्वेद के किसी भी ग्रंथ में सिद्धि-चिन्हों का वर्णन नहीं मिलता। इसलिए आज सच्ची चिकित्सा अर्थात् समचिकित्सा करने के लिए इनीमानीय ग्रंथों की ही सहायता लेना जरूरी है।

७ चिकित्सा में आनेवाली अड़चन

परन्तु इनीमानीय ग्रंथों में देड़ हजार से भी ज्यादा औषधियाँ बतलाई गई हैं और उनमें से लगभग तीन सौ औषधियों के ही सिद्धि-चिन्ह और वह भी हर एक के दो दो हजार के ऊपर बतलाए हैं। इन सभी सिद्धि-चिन्हों को ध्यान में रखकर रोगी के सभी चिन्हों से मिलती-जुलती औषधि निश्चित करना एक कठिनतम कार्य हो गया है। इसी तरह इन औषधियों के सभी मर्दन (मर्दन का मतलब आगे समझाया गया है) पास में रखना भी कुछ मामूली बात नहीं है। इस अड़चन से मुक्ति पाने के लिये कोई तीन, सौ, कोई दो सौ, कोई सौ, कोई पौन सौ, कोई तीस, तो कोई सोलह औषधियों को स्वीकार कर के उतनी औषधियों का ही अध्ययन करता है और उतनी ही काम में लाता है। परन्तु इन औषधियों का चुनाव किसी भी तत्त्व पर आधारित न होने के कारण उनपर भरोसा नहीं कर सकते। अर्थात् चुनी हुई उतनी ही औषधाधियों से सभी प्रकार के रोगों के मरीजों की चिकित्सा हो सकेगी, यह सम्भव नहीं; देड़ हजार औषधियाँ और उनके सभी मर्दन पास में रख कर भी हम सभी रोगों का इलाज कर सकेंगे, यह भी निश्चयपूर्वक नहीं कह सकते।

८ इस अङ्गचन का परिहार, -रोगों का वर्गीकरण

आयुर्वेद के प्रवर्तक ऋषियों ने भी उपर्युक्त अङ्गचन का अनुभव किया था । और उसका निवारण भी, रोगों के तीन वर्ग तथा प्रत्येक वर्ग के सभी रोगों की एक ही चिकित्सा बतलाकर, उन्होंने कर लिया था । यह उद्धरण देखिए —

नाना रूपैरसंख्ये रैर्विकारैः कुपिता मल । ॥३०॥

तापयन्ति तनुं तस्मात् तद्घेत्वाकृतिसाधनम् ।

शक्यं नैकैकशो वक्तुमतः सामान्यमुच्यते ॥३१॥

दोषा एव हि सर्वेषां रोगाणामेककारणम्

यथा पक्षी परिपतन् सर्वतः सर्वमप्यहः ॥३२॥

छायामत्येति नात्मीयां यथावाकृत्स्नमप्यदः

विकारजातं विविधं त्रीन् गुणान्नातिवर्तते ॥३३॥

तथा स्वधातुवैषम्यनिमित्तमपि सर्वदा

विकारजातं त्रीन् दोषान्— ॥३४॥

वाग्भट, सूत्रस्थान, अध्याय ८

अर्थ - मलवृद्धि के कारण नाना रूपों में प्रकट होने वाले असंख्य रोग शरीर को कष्ट पहुंचाते हैं । रोग असंख्य होने के कारण प्रत्येक रोग का कारण उसका स्वरूप अर्थात् चिन्ह और उसकी औषधि अलग अलग बतलाना संभव नहीं है । इसलिए उन सभी रोगों में जो सामान्य हैं अर्थात् रोगों में जो सामान्य चिन्ह हैं और उनपर जो सामान्य औषधि हैं, उन चिन्हों और औषधियों का यहां वर्णन किया जाता है । सभी रोगों के एक मात्र कारण दोष ही हैं । जिस प्रकार कोई पक्षी दिन भर सर्वत्र घूमता हुआ भी अपनी छाया कहीं पर भी छोड़ कर नहीं आता अथवा संसार का

कोई भी पदार्थ सत्त्वरजतम इन तीन गुणों से रहित नहीं रहता, उसी प्रकार अपने अपने रसरक्तादि धातुओं की विषमता (विकृति) के कारण उत्पन्न होनेवाला कोई भी रोग तीन दोषों के अतिरिक्त स्वतंत्र रूप से रह नहीं सकता । अर्थात् किसी भी रोग में त्रिदोष के अतिरिक्त और कुछ नहीं होता ।

(९) साद्यान्न से रोग दुरुस्त होते हैं; प्राणियों के साध्य के जितने प्रकार, उतने ही रोगों के वर्ग —

आयुर्वेदीय रोग-वर्गीकरण की पद्धति के समान ही रोगों का वर्गीकरण पर विचार करना आवश्यक है । रोग वयो और कैसे उत्पन्न होते हैं, यह जानने के लिए प्राणियों को जीवन-क्रिया समझ लेनी चाहिए । (क्योंकि मनुष्य भी एक जीव ही है और वह अन्यन्त सूक्ष्मजीवाणुओं का बना हुआ है) (i) विविध प्रकार के अन्न का सेवन, (ii) उसका पाचन, (iii) उससे वृद्धि, (iv) अपने जैसे जीवों की उत्पत्ति, (v) आचार-विचार, शीतादि-निवारण-क्रियाएं (vi) इन क्रियाओं से होनेवाली शारीरिक क्षीणता, क्षय-पूर्ति के हेतु पुनः अन्न-सेवन एवं शक्ति-संवर्धन आदि क्रियाएं जीवों की सामान्य जीवन क्रियाएं कहलाती हैं । ये क्रियाएं यदि व्यवस्थित होती रहें, तभी कोई व्यक्ति अपने को निरोगी कहला सकता है । अतः रोग-कारणों की खोज करने का मतलब इन क्रियाओं की विकृतियों के कारणों की खोज करना है और इन क्रियाओं की विकृति का कारण एक ही दिखाई देता है वह यह कि जीव को जो चाहिए, जितना चाहिए और पाचन के लिए जितना हलका चाहिए, उतना उस प्रकारका अन्न उसे मिलता नहीं । इस प्रकार जब अन्नाभाव ही रोगों का कारण निर्णित हो जाता है, तो जितने प्रकार का उस जीव का साद्यान्न होगा, रोगों के उतने ही प्रकार माने जायेंगे ।

१. जीवों का खाद्यान्न

अब यह प्रश्न उपस्थित होता है कि किस जीव का कौनसा अन्न है ? इसका उत्तर भी सुस्पष्ट है । जीव का शरीर जिन पदार्थों का बना हुआ है, वही उसका अन्न है । क्यों कि पेट में पहुँचे हुए अनेक पदार्थों में से वह कुछ को पचाकर शरीर में समा लेता है और अनावश्यक को बहिष्कृत कर देता है । इससे यह सिद्धांत निकलता है कि किसी भी जीव के शरीर में जो पदार्थ पाए जाते हैं, वे ही उसके लिए अन्न-रूप हैं और वे ही उसके विविध रोगों की औषधी भी हैं ।

अब यह विचार करना है कि मानव-शरीर में कौन कौन से पदार्थ पाए जाते हैं । यह वस्तुतः रसायन (Chemistry) शास्त्रों का विषय है । उन्होंने जो कुछ भी इस संबन्ध में खोज की है, वही खोज हमें प्रमाणित माननी होगी । उन्होंने शरीर में पाए जाने वाले पदार्थों के सेन्द्रिय और निरिन्द्रिय अथवा पार्थिव ऐसे दो वर्ग किए हैं । सेन्द्रिय का मतलब है किसी प्राणी से उत्पन्न होने वाले पदार्थ जैसे दूध, घी, शक्कर, तेल आदि । और निरिन्द्रिय का मतलब है वे पदार्थ जो धरती में पाए जाते हैं, जैसे पानी, नमक, लोहा आदि । इन्हें पार्थिव भी कहते हैं । रसायनशास्त्र के अनुसार मानव-शरीर में जो सेन्द्रिय पदार्थ पाए जाते हैं, वे निम्न प्रकार हैं —

१. शक्कर (Sugars)
२. वसा (चरबी-Fats)
३. ओजस् (Albuminous substnces or Proteins)
४. जीवद-द्रव्य (Vitamins)

निरिन्द्रिय पदार्थ जो मानव-शरीर में पाए जाते हैं । दोषों के नाम

- | | |
|--|----------|
| १. पानी (Water) | |
| २. नमक (Natrum Muriaticum) | जल दोष |
| ३. इक्ष्मभूलवण Kali Muriaticum) | श्वेत कफ |
| ४. अस्थि-सुधा. (Calcareia Phosphate) | मधुर कफ |

५. चित्रादमा (Calcareo Fluoride)	कठिन कफ
६. सिकता (Silicea)	सौम्य कफ
७. लौहज्वालिक (Ferrum Phosphate)	रंजकपित्त
८. लवणभूज्वालिक (Natrum Phosphate)	आम्लपित्त
९. तिक्त सैधव (Natrium Sulphate)	तिक्तपित्त
१०. कुलनार (Calcareo Sulphate)	पूयपित्त
११. इध्मभूगाधिक (Kali Sulphate)	पीतपित्त
१२. इध्मभूज्वालिक (Kali Phosphate)	घातक वायु
१३. मग्नज्वालिक (Magnesium Phosphate)	उत्तेजक वायु

इनके अतिरिक्त शरीर में और भी कुछ निरिन्द्रिय पदार्थ पाए जाते हैं, लेकिन हमेशा नहीं। वे वस्तुतः शरीर के लिए अनावश्यक हैं, इस लिए उनका यहां निर्देश नहीं किया गया। शरीर में और भी बहुत से पदार्थ उपलब्ध होते हैं, लेकिन उनका भी यहां उल्लेख करने की जरूरत नहीं है। क्यों कि शरीर में दो तरह की क्रियाएं चलती रहती हैं। एक है अन्न से शरीर के विभिन्न अवयव बनने की क्रिया और दूसरी है बने हुए अवयवों की परिश्रम के कारण क्षीण होते रहने को क्रिया। दूसरी “क्षीण होते रहने” की क्रिया में जो पदार्थ पाए जाते हैं, उन्हें अन्न की सूची में सम्मिलित कर लेने की आवश्यकता हो नहीं है। उल्लेख न किए गए पदार्थों में पापड़ खार (Sodium Carbonate) यह भी एक पदार्थ है। परिश्रम करने से शरीर में कोयले का जो एक आम्ल उत्पन्न होता है, उसके संयोग से लवणभूज्वालिक का पापड़खार बनता है। लेकिन फुफ्फुस (फेफड़े) में से आम्ल के बाहर निकल आने पर फिरसे उसका लवणभूज्वालिक बन जाता है। इसलिए पापड़खार शरीर-क्षय-जन्य होने के कारण उसका उपर्युक्त सूची में उल्लेख नहीं किया गया।

११. शरीर के उपर्युक्त सत्रह पदार्थों में से सभी सेन्द्रिय पदार्थ और पानी को ग्रहण करने की स्वाभाविक प्रवृत्ति मनुष्य में पाई जाती है।

और इन्हीं पदार्थों के साथ शेष निरिन्द्रिय पदार्थ उसके खाने में आ जाया करते हैं। इस लिए सामान्यतः मनुष्य को औषधोपचार ग्रहण करने की आवश्यकता ही नहीं रहती। परन्तु असल बात यह है कि कभी कभी ये निरिन्द्रिय पदार्थ पाचन के लिए जितने सूक्ष्म या हल्के होने चाहिए, उतने सूक्ष्म रूप में मनुष्य को अन्नद्वारा प्राप्त नहीं होते। इसी लिए मनुष्य बीमार पड़ता है और औषधोपचार ग्रहण करता है। उस समय फिर कोई चिकित्सा-तज्ञ रोगी को कौनसा पदार्थ आवश्यक है, यह जान कर उसे वही पदार्थ देता है। सेन्द्रिय पदार्थ और पानी स्वभावतः या प्रकृत्या ग्रहण किए जाने के कारण उनकी गणना औषधियों में नहीं की जाती परन्तु शेष बारह निरिन्द्रिय पदार्थ औषधि रूप माने जाते हैं।

अन्न के भृति और औषधि ऐसे दो प्रकार हैं। उनके भेद को जानना भी आवश्यक है। भृति अर्थात् भरण-पोषण करनेवाला अन्न शरीर की दैनंदिन आवश्यकता पूरी करता है। परन्तु इस भृति से हमेशा के लिए भूखप्यास नहीं मिटती; वह बार बार उत्पन्न होती है अर्थात् भृति की यह क्रिया विपरीत चिकित्सा की क्रिया के समान है। अन्न का दूसरा प्रकार अर्थात् औषधि रोग-चिन्ह नष्ट करती है। इस औषधि द्वारा नष्ट हुए चिन्ह फिरसे प्रकट होते नहीं। औषधि की यह क्रिया विपरीतार्थ चिकित्सा की क्रिया है। शक्कर (या पिष्टल पदार्थ) वसा, ओजस, जीवद-द्रव्य और पानी भृति हैं तथा अन्य बारह निरिन्द्रिय पदार्थ औषधियाँ हैं। पिष्टल पदार्थ शक्कर की भाँति मीठे नहीं होते, परन्तु उनकी बनावट शक्कर जैसी होती है और शरीर में उनकी शक्कर ही बनती है।

औषधियों की संख्या पर (कि वे बारह ही होनी चाहिए ऐसा) चिकित्सा-शास्त्र का बिलकुल आग्रह नहीं है। परन्तु चूंकि आज की रासायनिक खोजों पर से यही समझा जाता है कि शरीर में ये ही बारह पदार्थ हमेशा पाए जाते हैं और इन बारह पदार्थों के सिद्धि चिन्हों में,

मनुष्य में दिखाई देनेवाले सभी रोगों का अन्तर्भाव हो जाता है, इसलिए आज चिकित्सा-शास्त्र ने इन्हीं बारह पदार्थों को औषधि रूप में ग्रहण किया है। परन्तु भविष्य की खोजों से यदि शरीर में कोई तेरहवां पदार्थ हमेशा मौजूद रहनेवाला पाया गया, या किसी एक रोग का या रोग-चिन्ह का अन्तर्भाव उन बारह पदार्थों के सिद्धि चिन्हों में न हो सका और वह रोग या रोग-चिन्ह इन बारह पदार्थों में से किसी एक से भी विनष्ट होता हुआ नहीं दिखाई दिया, तो वह पदार्थ भी एक तेरहवां औषधि के रूप में चिकित्साशास्त्र द्वारा ग्रहण कर लिया जायगा। आज तो ये बारह पदार्थ ही औषधि-रूप माने जाते हैं।

(१२) अन्न से रोग दुरुस्त होते हैं, इसपर आक्षेप

शरीर में पाए जानेवाले अन्नरूप पदार्थों से ही रोग दुरुस्त होते हैं, इस कथन पर एक बड़ा भारी आक्षेप है। पहिले जो नियम बतलाया गया है, उससे यह स्पष्ट है कि रोगोत्पादक पदार्थ ही रोग दुरुस्त करते हैं, अर्थात् इससे यह सिद्ध होता है कि मनुष्य का जो अन्न जिस रोग को दुरुस्त करता है वही अन्न उसी रोग को उत्पन्न भी करता है। लेकिन आक्षेपकों का यह कहना है कि ऐसा सिद्धान्त ही नहीं सकता। उनका कहना है कि शरीर-पोषक अन्न से रोगोत्पादन सम्भव नहीं है।

उक्त आक्षेप का खण्डन

जब कि हम यह प्रत्यक्ष अपनी खुली आंखों से देख रहे हैं कि शरीर में पाए जानेवाले पदार्थों से ही बीमारों के रोग अच्छे हो जाते हैं और उन्हीं पदार्थोंका प्रमाण के बाहर अर्थात् शरीर की आवश्यकता से अधिक सेवन करने पर वे ही रोग उत्पन्न होते हैं (उदा : - नमक, लौहज्वालिक आदि) ऐसे समय हमारी बुद्धि को उक्त बात न जंचने पर भी वह “आंखों-देखी” एवं अनुभव की हुई होने के कारण उसे सम्भव ही मानना होगा। जो बात प्रत्यक्ष दिखाई देती है, उसकी उपपत्ति का ज्ञान-मात्र न होने के कारण उसे असम्भव मान बैठना, हमारी सरासर निर्बुद्धता ही है।

(१२) दूसरा आक्षेप और उसका खण्डन

दूसरा आक्षेप यह है कि यदि शरीरस्थ पदार्थों से ही रोग-निर्मूलन होता है, तो अन्य चिकित्सा-पद्धतियों द्वारा नियोजित संखिया (श्रृंगिका) बच-नाग, सुवर्ण आदि पदार्थोंसे रोग दुरूस्त होते हुए कैसे दिखाई देते हैं इसका उत्तर यह है कि एक तो इन चिकित्सा-पद्धतियों में काम में लाए जानेवाले पदार्थों में शारीरिक बारह पदार्थ ही होते हैं जैसे बचनाग या हींग में लौहज्वालिक होता है, धतूरा (काला या सफेद) या इंद्रावण में मग्नज्वालिक होता है। इस सम्बन्ध में आगे दिए हुए कोष्ठक से विशेष जानकारी प्राप्त हो सकेगी। दूसरी बात यह कि दो भिन्न पदार्थ यदि रसायन-शास्त्र की दृष्टि में एक ही वर्ग के रहे, तो रासायनिक क्रियाओं के साक्षात् आगार इस शरीर में भी उनके कार्य बहुधा एक-जैसे ही होते हैं। उदा:-इध्मभूलवण और इध्मभूनीलगाधिक (Kaligodide) रसायनशास्त्र की दृष्टि में एक ही वर्ग के हैं, इसीलिए उनके सिद्धि-चिन्हों में भी विलक्षण साम्य है। सिंगरू (Mercury sulphide) और कुलनार, सोमल और ज्वल, (Phosphorus), अस्थिसुधा और भारज्वालिक (Barium phosphate), ताम्र सोमलिक (Copper Arsenate) और इध्मभूज्वालिक आदि तथा अन्यान्य युग्म के पदार्थों में भी यही समानता की बात देखने को मिलती है—अर्थात् इनके चिन्हों में आश्चर्यजनक समानता देखने को मिलती है। आगे दिए हुए कोष्ठक में इस सम्बन्ध की जानकारी विशेष रूप से प्राप्त हो सकेगी। यह हमें ध्यान में रखना होगा कि इस कोष्ठक में दिए हुए एक ही वर्ग के पदार्थों का रासायनिक और रोगहारक धर्म लगभग एक-जैसा है और निकट के वर्गों के पदार्थों के रासायनिक एवं रोगहारक धर्म में भी साम्य है। तीसरी बात यह कि इन दो प्रकारों से भिन्न प्रकार के परन्तु रोग की दृष्टि से विपरीतार्थकारो पदार्थ भी शरीर में एक प्रकार की कम्पनात्मक गति उत्पन्न करते हैं तथा उस गति से शरीर के ही घटक-द्रव्य और भी

अधिक सूक्ष्म होकर रोग को अच्छा कर देते हैं। मंत्र, विद्युत् आदि शक्ति से इसी कारण रोग अच्छे हो जाते हैं। इस सम्बन्ध में “चिकित्सा-परीक्षण” में विस्तार के साथ उल्लेख किया गया है।
(Bodily Reaction परिच्छेद २३७)

पहिला कोष्ठक

चिन्हांकित पदार्थों का रासायनिक पृथक्करण नहीं हुआ है। उनमें विशेष पदार्थ होंगे ऐसा ग्रंथोक्त चिन्हों के आधार पर ही अनुमान कर लिया गया है। उसे निश्चित रूप में ग्रहण नहीं करना चाहिये।

शारीरिक द्रव्य

वे पदार्थ जिनमें यह शारीरिक द्रव्य पाया जाता है।

(१) लौहज्वालिक

वचनाग, हींग, Arnica, बेल नागर मोथा,* रोशा,* कालाधतूरा*
(Beuadona), पित्त पापड़ा*

(२) तिक्तसैधव

कुचला।

(३) कुलनार

हींग।

(४) लवणभूज्वालिक

रेवाचिनि (Rheum or)
(Rhubarb)

(५) इष्मभूगाधिक

(Pulsatila)

(६) इष्मभूलवण

हलदी (Sanguinaria) रोशा,*
सोंफ,* इंद्रजव,* नागरमोथा,* अतिविष*

(७) अस्थि-सुधा-इन्द्रावण (Colocynth) इन्द्रजव,* अतिविष,*

(८) सिकता

तृण, वंशलोचन*

(९) चिआइमा

(Phytol,) दांतों के ऊपर का आवरण

(१०) इष्मभूज्वालिक — Rhus, Pulsatila, Digitalis,

सफेद धतूरा (Stramonium,) एण्ड-मूल*

(११) मग्नज्वालिक—सफेदधतूरा, कालाधतूरा, इन्द्रावण।

१२. लवण—धनिया,* रोशा,* पित्तपापड़ा,* एरण्डमूल,* पीला
जीरा * सोंफ,* गुड़वेल्*

कोष्ठक दूसरा (रासायनिक वर्ग)

(कोष्ठकों में परमाणुओं की तौल दी हुई है)

वर्ग	पदार्थ
१.	Lithium लवणभू (७); (Sodium) (२३); इध्मभू (Kali) (३९); ताम्र (६३.५) चांदी (१०८); स्वर्ण (१९७)
२.	मग्न (Magnesium) (२४); अस्थिभू (Calcium) (४०); जस्ता (६५); भार (Barum) (१३७); पारा (२००)
३.	अल्यूमिनियम (२७).
४.	कोयला (१२); सिकताभू (Silicon) (२८); कर्षाल (११८) शिशा (२०७)
५.	नेट्रोजन (१४); ज्वल (Phosphorus) (३१); संखिया (७५).
६.	प्राणवायु (१६); गंधक (३२)
७.	हैड्रोजन (१); फ्लोराईन A (१९); क्लोराईन B (३५.५); नीलगंधक (Iodine) (१२७)
८.	लौह (५६)

१४. रोगों के बारह वर्ग याने बारह दोष

तात्पर्य मानव-शरीर में उत्पन्न होने वाले सभी रोग उपर्युक्त बारह
शारीरिक पार्थिव पदार्थों से ही निर्मूल हो जाते हैं । इसलिए शास्त्रीय

A चित्राश्मा में यह पदार्थ पाया जाता है । चित्राश्मा=अस्थिभू+फ्लोराईन

B नमक और इध्मभूलवण में यह पाया जाता है । नमक=लवणभू+क्लोराईन ।

इध्मभूलवण=इध्मभू+क्लोराईन.

दृष्टिसे हम यह कह सकते हैं कि रोग बारह ही हैं, अर्थात् चिकित्सा-सौकर्य के लिए आयुर्वेद में जैसा कि पहिले बताया जा चुका है, रोगों के दोष नामक जो तीन वर्ग किए हैं, वे वस्तुतः बारह किए जाने चाहिए थे। कहने का मतलब यह कि सच्चिकित्सा-शास्त्र में बारह दोष या बारह महारोग हैं और उस प्रत्येक दोष के लिए निश्चित की हुई औषधि एक एक शारीरिक पार्थिव पदार्थ के रूप में है, जो कुल बारह माने गए हैं। ऊपर जो बारह शारीरिक पार्थिव पदार्थों की सूची दी गई है, उसमें बारह दोषों के नाम भी, उस उस दोष को दुरुस्त करने वाले पदार्थों के नामों के आगे लिख दिए गए हैं। उनका नामकरण हमने किया है और आयुर्वेदोक्त दोष-चिन्हों से जो इन दोषों के चिन्हों की समानता है, उसी के अनुरूप इन दोषों को वात-पित्त-कफ कहा है। इस प्रकार हमने आयुर्वेदोक्त पित्त दोष के पांच, कफ दोष के चार और वात दोष के दो ऐसे कुल ग्यारह उपवर्ग किए हैं। जलदोष नामक एक नवीन दोष की कल्पना हमने स्वतंत्ररूप से की है। ऐसा करने का कारण यह है कि यह दोष उष्णता से बढ़ता है और ठंड से भी बढ़ता है। आयुर्वेद में ऐसे दोष का उल्लेख नहीं है। लोग उसे उष्णवात कहते हैं। आयुर्वेद ने इस दोष के चिन्हों को कुछ पित्त के चिन्हों में, कुछ वात के चिन्हों में और कुछ कफ के चिन्हों में मिला दिया है जैसे (i) चर्मदरणम् (त्वचा का फटना) या पूति-मुखता (मुंह से बूबू छूटना) (ii) दंत-शैथिल्य, ओष्ठ-भेद (होठों का फटना) (iii) मुखस्त्राव (मुंह में पानी आना) आत स्थौल्य (चरक संहिता, सूत्रस्थान अ. २०) को क्रमशः वात-पित्त-कफ में मिला दिया है। इस दोष के कुछ चिन्ह पित्त-चिन्ह जैसे, कुछ कफ-चिन्ह जैसे और कुछ वात-चिन्ह जैसे होने के कारण, तथा इस दोष के बाद बहुत करके जल्दी ही श्वेत कफ या मधुर कफ के चिन्ह प्रकट होने के कारण आयुर्वेदीय मंडर्विको यह दोष भिन्न प्रतीत नहीं हुआ। परन्तु ठंड से भी वृद्धि और गरमी से भी वृद्धि इस विलक्षण चिन्ह के कारण इस दोष को स्वतंत्र मानना आवश्यक है। ठंड और गरमी दोनों दशाओं में वृद्धि यह परस्पर विरोधी धर्म एक ही दोष में हो सकते हैं,

ऐसी कल्पना न कर सकने के कारण-या न सूझने के कारण, सम्भव है, आयुर्वेद-प्रवर्तक को यह दोष नहीं दिखाई दिया हो। तथापि उमका स्वतंत्र अस्तित्व मानना ही होगा। यह तो स्पष्ट ही है कि इन बारह दोषों के चिन्ह उस उस औषधिके सिद्धि-चिन्ह ही हैं।

(१५) रोग-कारणों से अलिप्त रहना याने पथ्य करना

अब तक हम यह प्रतिपादित करते आये हैं कि रोगोन्मूलन के लिए शारीरिक पार्थिव पदार्थ या अन्य किसी भी प्रकार से विपरीतार्थकारी चिकित्सा ही करनी चाहिए। लेकिन केवल ऐसा करते रहने पर भी कार्य-सिद्धि हो नहीं सकेगी। रोग जिन कारणों से उत्पन्न होता है या जो कोई भी संभवनीय रोग-कारण हैं, उनसे भी हमें दूर रहना होगा। तभी यथोचित चिकित्सा करते हुए रोगोन्मूलन हो सकेगा। जिसे पतले दस्त लगे हैं, उसे जड़ान्न-सेवन नहीं करना चाहिए और दस्तावर पदार्थ शाक-सब्जी, गेहूँ आदि वर्ज्य कर देना चाहिए। इसी को पथ्य कहते हैं। पथ्य का अभिप्राय ही हितकर आहार-विहार से है। औषधोपचार की भाँति पथ्याचार भी अत्यन्त महत्वपूर्ण है। क्योंकि रोग-कारणों की विद्यमानता में रोगोन्मूलन असम्भव है। यह प्रकृति का ही अटल एवं शाश्वत विधान है जिसकी उपेक्षा करके कोई भी प्राणी स्वस्थ नहीं रह सकता। तात्पर्य रोग-कारणों से भी हमें दूर रहना होगा और रोग पर योग्य उपचार भी करना होगा।

(१६) विपरीत चिकित्सा करने का समय और उसकी पद्धति

रोग-कारणों से दूर रहना चाहिये ऐसा जो ऊपर बतलाया गया है, उसमें कभी कभी विपरीत चिकित्सा का अवलम्बन भी जरूरी हो जाता है। एक कारण मूल रोग से जब दूसरा अत्यन्त मारक रोग उत्पन्न होने का भय रहता है, तब पहिले, के रोग की तीव्रता को विपरीत चिकित्सा से तत्काल कम करना ही चाहिये। उदा: १०५० डिग्री से भी ज्यादा बुखार यदि देर तक रहा, तो वह घातक बात-चिन्ह

उत्पन्न करता है जिससे बहुत जल्दी मृत्यु आती है। इसलिए घातक वात-चिन्ह उत्पन्न न होने देना ही इष्ट है और उस वात-चिन्ह का कारण स्वरूप जो तेज बुखार है, वह बने वहां तक जल्दी कम करना जरूरी है। ऐसे अवसर पर विपरीतार्थकारी चिकित्सा करना सर्वथा अनिष्ट-कारक है। क्योंकि उससे पहिले बुखार बढ़ता है और फिर घटता है। यदि उस विपरीतार्थकारी चिकित्सा से वह तेज बुखार बढ़ाया गया, तो उससे वात-चिन्ह उत्पन्न होने का भय रहेगा। अतः उस अवसर पर विपरीत चिकित्सा के रूप में सिरपर कपड़े की गीली पट्टी या बर्फ की थैली रख कर या शीतल ज.उ.स्नान बहुत ही सौम्य रूप से करवा कर बुखार को लगभग 98.3° तक उतारना चाहिए, ऐसा जो हम कहते हैं, उसका कारण भी अच्छी तरह समझा लेना चाहिए। यह पहिले ही बताया जा चुका है कि विपरीत चिकित्सा से रोग पहिले कम होता है और बाद में बहुत जोर से प्रकट होता है। जोर से प्रकट होने के समय भी मारक रोग उत्पन्न होगा ही। इसलिए उसका जोर हो सके उतना कम रहे यही इष्ट है। इसी कारण विपरीत चिकित्सा, हो सके उतनी सौम्य रूप से करनी चाहिए।

दुर्घटनाओं या अपघातों (विष-प्रयोग, घाव, चोट आदि) के अवसर पर भी विपरीत चिकित्सा का अवलम्बन हितावह है। उदाहरणार्थ-घाव से जोरों का रक्तस्त्राव हो रहा हो, तो उस अवसर पर भी घातक वात-चिन्ह उत्पन्न होकर प्राण-घात कर सकते हैं। इसलिए घाव को मजबूत बांधकर या सीकर रक्तस्त्राव तत्काल रोकना चाहिए। पानी में डूबने से श्वासोच्छ्वास-क्रिया बंद पड़ने पर उसे तुरन्त शुरू करवाने का कोई तो भी कृत्रिम उपाय अंमल में लाना ही चाहिए। नहीं तो उसका रक्त दूषित होकर तत्काल मारक हो सकता है।

अपघातों के अतिरिक्त और किसी भी अवसर पर विपरीत चिकित्सा करने की बहुधा आवश्यकता ही नहीं रहती। रोगी यदि प्रारम्भ से ही विपरीतार्थकारी चिकित्सा का औषधोपचार ग्रहण करता

रहा हो, तो उसके रोग में उतनी तीव्रता ही बहुधा नहीं आ पाती। फलतः दूसरा कोई मारक रोग उत्पन्न नहीं होता। और यदि तीव्रता आ ही जाती है—यदि रोग बढ़ ही जाता है, तो समझ लीजिए वह असाध्य रोगी है जो किसी भी अन्य उपचार से दुरुस्त नहीं हो सकता और जी नहीं सकता। संशय हमें यह ध्यान में रखना चाहिए कि जिसने शुरू से ही विपरीतार्थकारी चिकित्सा नहीं की है, ऐसे रोगी को यदि विपरीतचिकित्सा की औषधि देनी हो, या शुरू से ही जिसका रोग बहुत जोर पर हो, ऐसे ही समय हम सौम्यरूप से विपरीत चिकित्सा करें।

आयुर्वेद में विपरीत और विपरीतार्थकारी दोनों प्रकार की चिकित्साओं का वर्णन है तथापि जब रोग इतने जोर से बढ़ता है कि दूसरा मारक रोग उत्पन्न होने का डर रहता है, ऐसे समय विपरीत चिकित्सा करनी चाहिए, ऐसा आयुर्वेद में स्पष्ट नहीं बतलाया गया है। प्रत्युत ऐसे अवसर पर उसे आमरोग मानकर उसपर विपरीत चिकित्सा करने के बदले आयुर्वेद विपरीतार्थकारी चिकित्सा का समर्थन करता हुआ दिखाई देता है। दूसरे शब्दों में आयुर्वेद विपरीत चिकित्सा की वास्तविक आवश्यकता के अवसर पर विपरीत चिकित्सा करने की अनुज्ञा नहीं देता और रोग पक्व होने पर अर्थात् जब जरूरत नहीं रहती ऐसे अवसर पर विपरीत चिकित्सा करने का आदेश देता है। इस प्रकार रोग के बहुत ज्यादा जोर के समय विपरीत चिकित्सा विधेय है, ऐसा हम कहते हैं परन्तु आयुर्वेद का कहना है कि रोग जब बिलकुल निर्बल पड़ जाता है, तब विपरीत चिकित्सा करनी चाहिए।

लेकिन हमारा यह कहना है कि उस समय विपरीत चिकित्सा यद्यपि हानिकारक नहीं होती तथापि वह सर्वथा अनावश्यक है। क्योंकि उससे रोग-निर्मूलन होता नहीं। एलोपैथिक या आयुर्वेदिक या अन्य किसी भी चिकित्सा से रोग यदि जड़ से निकल जाता है, तो हम यह निश्चित ही समझ लें कि उस समय चिकित्सक की ओर से ज्ञान में या अनजान में समचिकित्सा ही की गई है।

यहां तक हमने सच्चिकित्सा (समचिकित्सा) के मुख्य तत्त्वों का वर्णन किया। अब असच्चिकित्सा का भी वर्णन कर लेना उचित ही होगा। क्यों कि बिना उसे जाने “उससे दूर रहना” हमारी समझ में नहीं आ सकेगा।

(१७) असच्चिकित्सा—अन्यरोगोपत्तिचिकित्सा—

शरीर में दो या दो से अधिक दोष या रोग रहने पर और उनमें से किसी एक के ही ज्यादा जोरदार रहने पर शरीर पर उभी एक जोरदार दोष या रोग के चिन्ह दिखाई देते हैं और अन्य कमजोर रोगों या दोषों के चिन्ह अव्यक्त रहते हैं। परन्तु उस जोरदार रोग या दोष का जोर यदि किसी कारण से घट गया और दूसरा दोष या रोग जोरदार बन गया, तो इस अव्यक्त दोष या रोग के चिन्ह शरीर पर प्रकट हो जाते हैं। शरीर का यदि हम सूक्ष्म निरीक्षण करते हैं, तो उक्त नियम तुरन्त हमारे ध्यान में आ जाता है। (देखिए “चिकित्सा-परीक्षण”) इस नियम के आधार पर एक नई चिकित्सा उद्भूत होती है। बीमार की प्रस्तुत बीमारी के अतिरिक्त एक दूसरी ही बीमारी पैदा करनेवाली बहुत ही जोरदार औषधि देने से बीमार की प्रस्तुत बीमारी अव्यक्त हो जायगी और औषधि से उत्पन्न होनेवाली वह दूसरी बीमारी बीमार के शरीर में घर करेगी। लेकिन ऐसे अवसर पर बीमार और वैद्य दोनों को यह भ्रम पैदा होता है कि पहिली बीमारी अच्छी हो गई और नई बीमारी अन्य किसी कारण से उत्पन्न हुई। या वे दोनों ऐसी भी धारणा बना लेते हैं कि ऐसी कोई नई बीमारी उत्पन्न हुए बिना प्रस्तुत बीमारी दुरूस्त हो ही नहीं सकती। ऐसी चिकित्सा का नाम हमने “अन्यरोगोपत्तिचिकित्सा” रखा है। उसे आज हम विषम चिकित्सा भी कहते हैं। इस चिकित्सा में यह दोष है कि एक तो बीमार को अन्य रोग की पीड़ा सहनी पड़ती है, या उस रोग के नष्ट होने पर पहिले की ही बीमारी भुगतनी पड़ती है। रसायन के नाम से जो दवाइयां प्रसिद्ध हैं, उनका अनुभव बहुतोंने इसी प्रकार किया है और वैसा ही अनुभव आज

भी रमायन-प्रेमी करते ही हैं। तात्पर्य यह चिकित्सा सच्ची चिकित्सा नहीं है। सच्ची चिकित्सा से तो मूल बामारी अच्छी हो जाती है और दूसरी होती ही नहीं। आयुर्वेद का भी यही कहना है—(वाग्भट सू. अ १३)

प्रयोगः शमयेद् व्याधिं योन्यमन्यमदीरयेत्

नासौ विशुद्धः शुद्धस्तु शमयेद् योनकोपयेत् ॥

तत्पर्य अन्य रोगोत्पत्तिचिकित्सा से बचने की हम हमेशा कोशिश करते रहें। इसी में हमारा कल्याण है।

(१८) असच्चिकित्सा से दूर रहने के उपाय

वैद्य हमेशा अपने आपसे यह प्रश्न करता रहे कि मैंने बीमार का तो रोग अच्छा किया लेकिन उसीके साथ बीमार में दूसरा रोग तो पैदा नहीं किया। वह रोगी को दवा देने के पूर्व ठीक तरह उसकी जांच कर लें और उसके सभी रोग-चिन्हों से मिलती-जुलती विपरीतार्थकारी औषधि दें जिससे कि रोगी में दूसरा रोग पैदा ही न हो। परन्तु मनुष्य-स्वभाव ही ऐसा है कि वह कभी कभी भूल कर जाता है। परिणामस्वरूप रोगी को यदि वह अन्य रोगकारक औषधि दे देता है, तो उपर्युक्त प्रश्न का उत्तर देते समय उसकी भूल उसे शत हो जायेगी। रोगी को मूल बामारी अच्छी होने पर भी यदि एक भी नया रोगचिन्ह उसमें दिखाई देता है, तो औषधि-योजना में भूल हुई है, यह सन्निश्चित है। उस अवसर पर वैद्य थोड़े समय के लिए औषधि देना बंद कर दें और प्रतीक्षा करें। ऐसा करने से अल्पावधि में ही रोगी का नया रोगचिन्ह नष्ट होकर मूल रोग प्रकट हो जायेगा। तत्पश्चात् वैद्य पुनश्च सोच-समझकर औषधि-योजना करें।

परन्तु इस पुस्तक में आगे जैसा वर्णन किया गया है, उस प्रकार औषधि तैयार कर के देने से ऐसे उपर्युक्त प्रसंग प्रायः उद्भूत ही नहीं होंगे क्योंकि उस ढंग की तैयार की हुई औषधियों में से कोई अन्यरोगकारक

औषधि मरीज को यदि भूल से दी भी गई, तथापि वह गलत औषधि जल्दी असर करेगी ही नहीं और यह दिखाई देने पर कि वह औषधि असर नहीं कर रही है, तो इसका मतलब ही यह होगा कि वह औषधि गलत दी गई है। अतः वैद्य फिरसे सोच समझकर औषधि-योजना करेगा। इसके अलावा शारीरिक पार्थिव चिकित्सा में बारह औषधि होने के कारण उनके चिन्हों का अध्ययन आसान हो जाता है। इसलिए औषधियों के चुनाव में भूल होने की सम्भावना बहुत कम रहती है।

(१९) असच्चिकित्सा के दुष्परिणाम

यह बड़े दुख की बात है कि आजकल सुप्रचलित एलोपैथी, आयुर्वेद तथा अन्यान्य चिकित्सा-पद्धतियों में अन्यरोगोत्पत्ति चिकित्साका ही अधिकतर अवलम्बन किया जा रहा है।

इस अन्यरोगोत्पत्ति-चिकित्सा का अवलम्बन एक राष्ट्रीय आपत्ति ही है। हम लोग जो बड़े दुख के साथ अनुभव करते हुए यह कहते हैं कि दिन पर दिन भारत रोगाक्रांत हो रहा है, फलतः उसका स्वास्थ्य गिरता जा रहा है, इसका एक सर्व प्रमुख कारण अनजान में प्रयुक्त की गई यह अन्यरोगोत्पत्ति चिकित्सा ही है। क्रीमीन जिनका बुखार जाता रहा लेकिन उससे बदले में अग्निमांश, पेट दर्द, सिर दर्द आदि व्याधियों से लगातार पीड़ित रहनेवाले तथा किसी औषधि से खुजली के अच्छे हो जाने पर पागलपन, अग्निमांश, क्षय आदि के भक्ष्य बने हुए ऐसे कई व्यक्ति उदाहरण के तौर पर बतलाए जा सकते हैं। ऐसे भी कई लोग देखने में आते हैं जिनके शरीर से किसी भी रूप में होनेवाला कोई स्वाव, एकाएक बंद होकर उसी क्षण उससे भी ज्यादा भयानक रोग के उत्पादन का वह कारण बन गया है। बड़े बड़े लोकनेताओं की अकाल मृत्यु के कारणों की खोज करने पर दिखाई देगा कि अधिकतर अन्यरोगोत्पत्ति चिकित्सा ही उनकी असामयिक मृत्यु का मूल कारण है।

(२०) असच्चिकित्सा के कारण उत्पन्न होनेवाली अड़चनें और उनका परिहार

अब हम यह बतलायेंगे कि असच्चिकित्सा के प्रसार के कारण सच्चिकित्सा के मार्ग में उत्पन्न होनेवाली अड़चनों के समय किन किन बातों की सावधानी रखनी चाहिए। अन्यरोगोन्पत्तिचिकित्सा से त्रस्त होकर यदि बीमार सच्चिकित्सा की शरण आता है, तो उस सच्चिकित्सक वैद्य उस बीमार में दिखाई देनेवाले मौजूद रोग-चिन्हों पर ऐसी औषधि दें कि जिससे वे चिन्ह नष्ट हो जायें और पहिले के दबे हुए रोग चिन्ह यह प्रकट हों। पहिले के दबे हुए रोग चिन्ह प्रकट होने पर वैद्य को यह विश्वास हो जायेगा कि हमारी औषधि अचूक थी। परन्तु ऐसे समय वह बीमार मनुष्य वैद्य पर इसलिए क्रुद्ध होगा कि उसका दवा हुआ रोग इस वैद्य की औषधि से फिर से प्रकट हो गया। वह, सम्भव है, गुस्से में आकर उस सच्चिकित्सक वैद्य से औषधि लेना भी बंद कर देगा। यह दुर्भाग्य ही है कि पहिले के वैद्य की गलती के कारण सच्चिकित्सक वैद्य और उसकी चिकित्सा बदनाम होती रहे। तथापि सच्चिकित्सक को चाहिए कि वह अपनी सत्यनिष्ठा न छोड़कर सन्मार्ग पर डटा रहें। उसको चाहिए कि वह पहिले ही अर्थात् औषधोपचार के पूर्व ही उस बीमार से उसका सारा इतिहास जान कर उसे जतला दें कि पहिले की बीमारी फिर से प्रकट होगी। वह उस बीमार को यह भी समझा दे कि पहिले की बीमारी प्रकट होकर ही बाद में प्रस्तुत बीमारी निर्मूल होगी; इस तरह यह भी स्पष्ट कह दें कि इस सच्चिकित्सा के अतिरिक्त सच्चे अर्थ में रोग-निर्मूलन का दूसरा कोई मार्ग भी नहीं है। यदि बीमार को वैद्य की ये बातें जंचती हैं, तो वह सच्चिकित्सा की औषधि अवश्य ही ग्रहण करेगा और उस औषधि-सेवन से पहिले का रोग-प्रकट होने पर भी वह अन्यत्र नहीं जायगा। लेकिन दुर्भाग्य से यदि वैद्य की बातें रोगी की समझ में नहीं आती हैं और वह दूसरी जगह चला जाता है, तो सच्चिकित्सक प्रलोभन में पड़कर उसे रोकने का प्रयत्न न करें

और प्रामाणिकता के साथ जितनी भी कमाई हो, उसी पर वह संतुष्ट रहें। अधर्म से उपार्जित लाख रूपए की अपेक्षा धर्म से प्राप्त एक पैसा ही अधिक कल्याणप्रद होता है।

(२१) औषधि तैयार करने की रीति; मर्दन या शक्ति

औषधि तैयार करने की रीति निम्न प्रकार है। एक तोला मूल औषधि जैसे शुद्ध नमक आदि लेकर उसमें दूध से निकाली हुई नौ तोला शक्कर मिलानी चाहिए। (इस शक्कर में बरसात में ढेले नहीं बँधने) और उस मिश्रण को दो घंटे तक लगातार घोटना चाहिए। इस तरह पहिले मर्दन की या शक्ति की औषधि तैयार होती है। इस पहिले मर्दन की एक तोला औषधि लेकर उसमें फिर से नौ तोला वैसी दूध से निकाली हुई शक्कर मिलानी चाहिए और उसी प्रकार दो घंटे तक उस मिश्रण को घोटना चाहिए। इस दूसरे मर्दन की औषधि से उसी प्रकार या तत्सम अन्य रीति से तीसरे मर्दन की और तीसरे मर्दन की औषधि से चौथे मर्दन की; इस प्रकार क्रमशः दो सौ, पांच सौ, हजार, लाख, दस लाख, कोटि मर्दन तक की औषधियाँ तैयार की जाती हैं। इन विभिन्न मर्दनों की औषधियों का उपयोग कर ऐसा अनुभव लिया गया है कि यद्यपि ज्यादा मर्दन में औषधि कम-कम होती जाती है, तथापि उसकी रोग-कारक एवं रोगहारक सामर्थ्य अधिकाधिक बढ़ती जाती है। लेकिन औषधि के रोगकारक धर्म की अपेक्षा उसका रोगहारक धर्म ही ज्यादा जोर से बढ़ता है। उदाः रोगकारक धर्म यदि दुगुना हो तो रोगहारक धर्म चौगुना बढ़ता है और रोगकारक धर्म दस गुना हो, तो रोगहारक धर्म सौगुना बढ़ता है। इस पर हम भारतीयों को अचम्भित होने का कोई कारण नहीं है। “मर्दनं गुणवर्धनम्” का हमें आज भी अनुभव है।

(२२) मर्दनों के उपयोग का नियम—

इन मर्दनों के उपयोग के सम्बन्ध के अनुभव-सिद्ध नियम निम्न प्रकार हैं—

(१) रोगी को आवश्यकता से कम मर्दन की औषधि या कम मात्रा देने पर रोग दुरुस्त नहीं होता ।

(२) रोगी को आवश्यक मर्दन की औषधि और यथावश्यक मात्रा दी जाने पर रोग दुरुस्त होता हुआ दिखाई देता है । यद्यपि यह सत्य है कि बिना पहिले रोग-वृद्धि हुए किसी भी विपरीतार्थकारी औषधि से रोग निर्मूल होता नहीं, तथापि वह औषधि--कृत रोग-वृद्धि इतनी होती है कि वह साफ साफ निश्चित रूप से (मालूम नहीं पड़ती । इसे औषधि-कृत अलक्षणाय रोगवृद्धि कहते हैं ।

(३) रोगी को आवश्यकता से अधिक मर्दन की औषधि या आवश्यकता से अधिक उसकी मात्रा देने पर औषधि कृत रोग वृद्धि स्पष्ट निश्चित रूप से दीख पड़ती है । ऐसे समय रोगी को पुनः औषधि देना बंद कर देना चाहिए और देखना चाहिए कि रोगी में क्या क्या परिवर्तन होते हैं । वैद्य को दिखाई देगा कि रोगी का रोग कम कम हो रहा है और फिर एक समय ऐसा आयगा कि रोगी के रोग का कम होना ही बंद हो जायगा । तब फिर से वही औषधि जो पहिले दी थी, या उससे कम मर्दन की औषधि देनी चाहिए । यदि उस औषधि से रोग वृद्धि या फायदा नहीं दिखाई दिया, तो उससे ज्यादा मर्दन की औषधि देनी चाहिए ।

(४) कम मर्दन की औषधि की मात्रा बहुत बार देनी चाहिए और ज्यादा मर्दन की मात्रा कम बार देनी चाहिए । उदा: ६ वे मर्दन की मात्रा दो दो घंटे के अन्तर से देनी चाहिए । लेकिन लाख मर्दन की मात्रा छः माह में एक ही बार देनी चाहिए ।

(५) एक मात्रा में गेहूँ के दो तीन दाने की जितनी बड़ी पुड़िया बन सकती हैं, उतनी ही औषधि देनी चाहिए । कोई चांदो की चवर्चा पर जितनी औषधि समा सकती है, उतनी औषधि की पुड़िया बांध कर देते हैं । लेकिन हमने अनुभव किया है कि इतनी बड़ी औषधि की पुड़िया देने की आवश्यकता नहीं है ।

(६) रोग जितना अधिक आशुकारी (शीघ्रप्राणान्तकारी) होगा, रोगी को उतनी ही ज्यादा मर्दन की औषधि ज्यादा मात्रामें देनी चाहिए । जैसे हैजा रोग पर लाख या कोटि मर्दन की भी दो, चार या छः मात्रा एक दिन में ही देनी चाहिए । पंद्रह दिन के मारक संथर ज्वर में लाख मर्दन की पांच, छः या उससे ज्यादा मात्रा पंद्रह दिन के अन्दर देनी चाहिए ।

(७) रोग जितना अधिक चिरकारी (बहुकाल के बाद प्राण लेने-वाला) होगा, उतनी ही कम मात्रा और कम मर्दन की औषधि देनी चाहिए । उदाः मामूली जोर की खांसी या इकतरे बुखार पर दो सो मर्दन की औषधि की रोज एक मात्रा दी गई, तोभी पर्याप्त है ।

(८) नए रोग में औषधि-कृत रोग-वृद्धि अल्प समय तक अर्थात् पन्द्रह, बीस मिनट तक भी हो सकती है । लेकिन पुराने रोग में औषधि-कृत रोग-वृद्धि रोग जितना दृढमूल होगा उसके हिसाब से और दी हुई औषधि के मर्दन के हिसाब से ज्यादा दिन तक अर्थात्-पंद्रह-बीस-दिन, माह-दो-माह या चार माह तक भी हो सकती है । तथापि रोगी को बीच बीच में आराम भी मिलता रहता है ।

(९) रोग जितना पुराना होगा, उतने ही ज्यादा मर्दन की औषधि रोगी के लिए आवश्यक रहेगी । लेकिन इतने ज्यादा मर्दन की औषधि एकदम दी जाने पर रोगी को औषधि-कृत रोग-वृद्धि से ज्यादा कष्ट होगा । इसलिए रोगी को प्रारम्भ में कम मर्दन की औषधि देनी चाहिए और तीसरे नियम में बत लाए अनुसार रोग ज्यों ज्यों कम कम होता जायगा, त्यों त्यों निर्मूल होते तक मर्दन बढ़ाते रहना चाहिए ।

(१०) ऊपर जो हमने बतलाया है कि औषधि-कृत रोग-वृद्धि के समय दुबारा औषधि देना बंद करने पर रोग-वृद्धि कम कम होता है और मूल रोग भी कम कम होता है, तो यह बात एकमात्र साध्य रोगियों के ही सम्बन्ध में कही गई है । यदि कोई असाध्य रोगी है, तो उसे औषधि देने पर, उसमें जो रोग-वृद्धि होगी, वह दुबारा औषधि देना बंद कर देने

से भले ही कम हो जाय, लेकिन उस रोगी की मूल बीमारी कुछ कम नहीं होगी। कभी कभी तो औषधि-कृत रोग-वृद्धि से असाध्य रोगी को मृत्यु तक जल्दी प्राप्त होती है। इसलिए रोगी में दिखाई देनेवाले चिन्हों में यदि वह असाध्य दिखाई देता है, या ऐसा सन्देह उत्पन्न होता है, तो उस रोगी को बारहवें या उससे कम मर्दन की औषधि, उसके कष्ट को कम करने की दृष्टि से देते रहना चाहिए।

(११) औषधि से रोग बढ़ा या रोगी का मूल रोग बढ़ा, इसका निर्णय दो हुई औषधि, रोग-वृद्धि के कारण-भूत अपथ्य आदि का विचार करके ही करना चाहिए। तथापि कई अवसरों पर यह निर्णय भी संशयास्पद प्रतीत होता है। औषधि-कृत रोग-वृद्धि में, बीमार कहता है, कि मुझे अच्छा लगता है। यदि वह छोटा बालक हो, तो उस औषधिकृत रोग-वृद्धि की दशा में भी खेलता-कूदता रहेगा। परन्तु उक्त आधार पर भी संशय का निराकरण नहीं हुआ, तो आशुकारी बीमारी में मूल रोग ही बढ़ा" ऐसी कल्पना करके ज्यादा मर्दन की औषधि देना ही अचूक एवं हितावह मार्ग है। परन्तु चिरकारी बीमारी में एकदम ज्यादा मर्दन की दवा देने की आवश्यकता नहीं है। यदि उस समय औषधि-कृत रोग-वृद्धि की शंका उत्पन्न होती है, तो दुबारा औषधि नहीं देना चाहिए। फलतः औषधि-कृत रोग-वृद्धि कम हो जाती है। यदि औषधि देना बंद कर देने में रोग कम होता हुआ दिखाई देता है, तो हम यह निश्चित समझ लें कि वह औषधि-कृत रोग-वृद्धि थी। परन्तु आशुकारी बीमारी में रोग के कम होने की प्रतीक्षा करते बैठना खतरे से खाली नहीं है इसलिए ऐसी आशुकारी बीमारी में बीमार को औषधि-कृत रोग-वृद्धि से अत्यधिक कष्ट होने की सम्भावना होने परभी ज्यादा मर्दन की दवा दे देनी चाहिए।

(१२) कौन बीमार मनुष्य किस मर्दन की औषधि से दुखस्त होगा, यह बिना चिकित्सा किए शास्त्र निश्चित रूप से नहीं बतला सकता। इसलिए प्रारम्भ में उपर्युक्त नियमों के अनुसार किसी भी मर्दन

की औषधि देकर देख लेना चाहिए और फिर उसका परिणाम देखते हुए उन नियमों के ही अनुसार—जहां जैसी जरूरत दिखाई देगी, उम हिसाब से कम या ज्यादा मर्दन की औषधि देनी चाहिए।

(२३) चिकित्सा करते समय ध्यान में रखने की महत्वपूर्ण बातें

उपर्युक्त नियमों के अनुसार चिकित्सा करते समय निम्न बातें ध्यान में रखनी चाहिए।

(१) जिस आहार विहारादि से दोषोद्भव या दोष वृद्धि होती है, रोगी को तुरन्त उसका त्याग कर देना चाहिए। आगे दिए हुए दोष-चिन्हों में यह बतलाया गया है कि किस प्रकार के आहार विहारादि से दोषोत्पत्ति एवं दोष-वृद्धि होती है। उदा: यह बतलाया गया है कि भोजन करने से श्वेत-कफ बढ़ता है, इसलिए श्वेतकफ के बीमार को भोजन बंद कर देना चाहिए या बहुत ही अल्प और पचन-योग्य हलके भोजन के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं सेवन करना चाहिए। इसी को अपथ्य-वर्जन या पथ्य-पालन कहते हैं। वैद्य को यह हमेशा ध्यान में रखना चाहिए कि बिना अपथ्य-वर्जन के रोग जल्दी ओर निश्चित रूप से दुरुस्त होता नहीं।

(२) कभी कभी ऐसी बिकट समस्या खड़ी हो जाती है जब कि कोई मरीज ऐसे दो रोगों से पीड़ित है जिसमें एक रोग के लिए लंघन-अन्नवर्जन-करना जरूरी है और दूसरे के लिए वृंहण अर्थात् पोषण के लिए अन्न-सेवन करना जरूरी है। ऐसे समय समस्या का निश्चय हल यह है कि लंघनीय रोग यदि आशुकारो है, (जैसे फुफ्फुस प्रतिश्याय) तो रोगी को लंघन पर ही रखना चाहिए। फलतः वह रोग जल्दी अच्छा हो जायेगा इसके बाद रोगी को फिर वृंहण देना चाहिए। लंघनीय रोग यदि चिरकारी है (जैसे खुजली) तो लघु लंघन पर रोगी को रखना चाहिए, अर्थात् आवश्यक उतना ही थोड़ा और हलका परंतु पौष्टिक अन्न सेवन को देना चाहिए। उदा: शुरु से ही कमजोर, (अर्थात्

बृंहणीय) बीमार को फुफ्फुस दाहज्वर होने पर उस रोग के निमूल होते तक कड़क लंघन पर ही रखना चाहिए। फुफ्फुसदाह ज्वर में यद्यपि बढ़बढ़ आदि वात चिन्ह रहते हैं, तथापि वात बृंहणीय होकर भी रोगी को भोजन नहीं देना चाहिए। क्योंकि उस वात-चिन्ह का संबन्ध आशुकारी लंघनीय फुफ्फुसदाहज्वर से हैं। किसी कमजोर को खुजली यह लंघनीय रोग हुआ, तो वह चिरकारी होने के कारण रोगी को अल्प प्रमाण में पोषण देना चाहिए। इन सब बातों को यदि वैद्य अंमल में नहीं लाते हैं, तो आशुकारी लंघनीय बीमारी में रोगी आशुकारी रोग की वृद्धि से मरता है और चिरकारी लंघनीय बीमारी में भी कड़क लंघन से बृंहणीय रोग बढ़ कर रोगी के प्राण हर लेता है।

(३) किसी भी चिरकारी लंघनीय बीमारी में रोगी को अत्यन्त कड़क लंघन पर नहीं रखना चाहिए। आवश्यक पोषण रोगी को मिलने रहना चाहिए।

(४) रोगी के रोग-चिन्ह कम होकर उसकी जगह यदि पूर्व रोग-चिन्ह प्रकट होते हैं, तो रोगी दुरुस्त हो रहा है, ऐसा समझना चाहिए। (यह पहिले ही बतलाया जा चुका है कि अन्य रोगोत्पत्ति-चिकित्सा ग्रहण करनेवाले बीमार में यह बात देखी जाती है) और प्रकट हुए इन पुराने चिन्हों से यदि पहिले दी हुई औषधि ही अचूक जैचती है, तो वही औषधि रोगी को देते रहना चाहिए। तथापि पहिले की दी हुई मात्रा यदि ज्यादा मर्दन की है तो वही मात्रा दुहराने के पहिले, पहिले की मात्रा से ही पुराने रोग-चिन्ह कम हो रहे हैं या नहीं, इस बात की कुछ समय तक वैद्य को प्रतीक्षा करनी चाहिए। इस प्रकार काफी समय तक प्रतीक्षा कर लेने पर भी यदि वे चिन्ह कम होते हुए दिखाई नहीं देते, तभी वह मात्रा रोगी को फिर से देनी चाहिए। अथवा प्रकट हुए इन पुराने रोग-चिन्हों से पहिले की दी हुई औषधि की अपेक्षा दूसरी कोई औषधि उचित जैचती है, तो वही दूसरी

औषधि देनी चाहिए ।

(५) रोगी के रोग-चिन्ह कम होकर अभूतपूर्व चिन्ह यदि रोगी में उत्पन्न होते हैं और दी हुई औषधि में वे नए चिन्ह उत्पन्न करने की सामर्थ्य है, तो यह समझना चाहिए कि उस औषधि ने अन्य रोगोत्पादन का काम किया होगा, अतः हमारी वह औषधि-योजना गलत थी। ऐसे अवसर पर कुछ समय तक औषधि देने से हाथ खींच लेना चाहिए। ऐसा करने से वे नए रोग-चिन्ह नष्ट होकर पहिले के चिन्ह प्रकट हो जाते हैं तत्पश्चात् दुबारा ठीक तरह सोच समझकर जो दूसरी औषधि गुणकारी मालूम देगी, वही देनी चाहिए। परंतु नए रोगचिन्ह नष्ट होकर पहिले के चिन्ह प्रकट न हो तो नए चिन्ह की चिकित्सा करो।

(६) रोगी के रोग-चिन्ह यदि ज्यादा बढ़कर, रोगी में नए चिन्ह भी उत्पन्न होते हैं और दी हुई औषधि में वे नए चिन्ह उत्पन्न करने की श्रमता है, तो “औषधि ज्यादा दी गई” समझ कर कुछ समय तक औषधि देना बंद कर देना चाहिए, जिससे अपने आप फायदा हो जायेगा।

(७) औषधि-योजना अचूक होने पर भी यदि रोग अच्छा होकर अकारण ही उलटता है, तो समझना चाहिए कि रोगी असाध्य है।

(८) औषधि से रोग बढ़ता है लेकिन बाद में औषधि न दुहराने पर भी यदि रोग कम नहीं होता, तो रोगी को असाध्य ही समझना चाहिए।

(९) रोग जब शरीर के बाह्येन्द्रियों को छोड़कर अन्तस्थ इंद्रियों में जाता है तो औषधि-योजना गलत थी, यही समझना चाहिए या पुनः पूर्ण विचार करने पर यदि वही औषधि-योजना सही मालूम पड़ती है, तो दी हुई औषधि का रोगपर कोई असर नहीं हुआ, इसलिए रोगी और भी ज्यादा बिगड़ गया ऐसा अनुभव कर रोगी को ज्यादा मर्दन की औषधि देना चाहिए।

(१०) औषधि से फायदा होता है लेकिन वह ज्यादा देर तक टिकता नहीं, तो यह समझना चाहिए कि रोगी रोग के कारणों से अभी भी मुक्त नहीं है। और यदि ऐसी बात नहीं है, तो समझना चाहिए कि हमारी औषधि गलत है अथवा रोगी असाध्य है।

(११) औषधि की रोगहारक क्रिया पूरी होने के लिए पर्याप्त समय बीतने पर भी और किसी एक विशिष्ट चिन्ह के अतिरिक्त सभी रोग-चिन्ह विनष्ट होने पर भी, वही एक विशिष्ट चिन्ह कायम रहता है, तो समझना चाहिए कि शरीर के रचना-वैशिष्ट्य के कारण वह चिन्ह कायम है। वंशागत विकृति (शारीरिक बिगाड़) मूत्रपिण्ड एक ही होना, फुफ्फुस का आकार छोटा होना, या उसमें विनष्ट हुए राजयक्ष्मा के अवशेष रहना आदि रचना-वैशिष्ट्य के कारण विशिष्ट चिन्ह नष्ट नहीं हो सकते। ऐसे रोग को याप्य रोग कहते हैं।

(२४) औषधि चुनने की रीति

अब औषधियों के चुनाव की रीति बतलाई जाती है—

(१) प्रथमतः चिन्ह-ज्ञान

सर्वप्रथम रोगी के सभी रोग-चिन्हों की जानकारी प्राप्त कर लेनी चाहिए। रोग-चिन्ह दो प्रकार के हैं। एक जो देखकर ही वैद्य को मालूम हो जाते हैं; जैसे, बुखार, धमना की गति और प्रकार, पथरी की वृद्धि शरीर का फीकापन आदि। इन्हें भिषग्-ज्ञेय चिन्ह कह सकते हैं। दूसरे प्रकार के चिन्ह जो बीमार के अतिरिक्त और किसी की सहाय में नहीं आ सकते; जैसे पेटदर्द, मुँह का कड़वापन, मूर्च्छा, निद्रानाश, आंखों में आग आदि। इन चिन्हों को रुग्ण-ज्ञेय चिन्ह कह सकते हैं। वैद्य को पहिले स्वयं ही दर्शन, स्पर्शन, आघात, श्रवण आदि रीतियों से प्रथम प्रकार के चिन्हों का ज्ञान प्राप्त कर लेना चाहिए और साथ ही रोगी से प्रश्न पूछते हुये दूसरे प्रकार के चिन्हों को मालूम कर लेना चाहिए। लेकिन वैद्य को रोगी से सूक्ष्म प्रश्न नहीं पूछना चाहिए।

क्योंकि प्रायः सभी रोगों ऐमे सूचक प्रश्नों का उत्तर “ हाँ ” कह कर ही देते हैं । उदा: मुह कड़ुआ लगता है क्या ? ऐसा प्रश्न कदापि नहीं पूछना चाहिए । क्यों कि उत्तर में प्रायः सभी “ हाँ ” कह देंगे । तुम्हारे मुंह की रुचि कैसी है ? ऐसा प्रश्न पूछना चाहिए । यां इस तरह भी प्रश्न कर सकते हैं क्या तुम्हारा मुंह कड़ुआ लगता है या नमकीन, या फीका या मीठा या चरपरा लगता है ? इस प्रकार के प्रश्नों का उत्तर रोगी सोच-विचार कर के ही देगा ।

इन दो प्रकारों के चिन्हों के अतिरिक्त रोगी की बीमारी का इतिहास ओर बीमारी की दशामें उसने ली हुई औषधियों की जानकारी भी पूछ-ताछ कर प्राप्त कर लेनी चाहिए । क्योंकि इसका उपयोग, दोष कौनसा है रोग कौन-सा है, रोगी को औषधि देना चाहिए या नहीं, यदि देते हैं तो किस मर्दन की देना चाहिए, उसकी कितनी मात्राएं देना चाहिए अपनी औषधिका रोगी पर क्या असर होगा, रोग साध्य है या असाध्य है आदि बातें जानने में होता है ।

(२) चिन्ह-ज्ञान के पश्चात् औषधि का चुनाव

इस प्रकार रोग सम्बन्धी सभी बातें मालूम कर लेने पर जिस औषधि के सिद्धि-चिन्हों से रोगी के सभी रोगचिन्ह मेल खाते हैं, उसी औषधि का चुनाव करना स्वाभाविक ही है । और हनिमानीय वैद्य जिन देड़ हजार औषधियों का उपयोग करते हैं, उनमें से वैसी औषधि चुनना यद्यपि कठिन है तथापि असम्भव भी नहीं है । परन्तु वैसी औषधि चुनना कठिन अवश्य है । इसी लिए शरीर के बारह पार्थिव पदार्थों से ही चिकित्सा करने की पद्धति आविष्कृत की गई है । परन्तु इसके सम्बन्ध में भी यह कहा नहीं जा सकता कि इस पद्धति के शारीरिक पदार्थोंमें रोगी के सभी रोग-चिन्हों से मिलती-जुलती एक ही औषधि सदैव प्राप्त होती ही रहेगी । विश्व में पाए जानेवाले असंख्य मिश्रित-अमिश्रित सभी पदार्थों का हनिमानीय चिकित्सा-पद्धति में उपयोग होते रहने के कारण, उनमें रोगी के सभी चिन्हों से मिलता-जुलता अकेला एक पदार्थ प्राप्त

होना कोई असम्भव बात नहीं है। परन्तु केवल बारह अमिश्र शारीरिक पार्थिव पदार्थों में वैसा अकेला एक पदार्थ हमेशा नहीं पा सकते। इसलिए औषधि का चुनाव करते समय, “रोगी का अमुक चिन्ह या अमुक चिन्ह-समूह अमुक पदार्थ के अतिरिक्त अन्य किसी भी पदार्थ के चिन्हों में नहीं है, इस लिए वही अमुक पदार्थ बीमार को देना चाहिए” इस तर्क पद्धति से सर्वप्रथम एक औषधि चुन लेनी चाहिए। बाद में रोगी के जो जो चिन्ह उस चुनी हुई औषधि के चिन्हों में अन्तर्भूत हो सकते हैं, उन सब को छोड़ कर शेष चिन्हों के लिए पुनः उसी तर्क-पद्धति से दूसरी औषधि चुनना चाहिए। इस प्रकार रोगी के सभी रोग-चिन्हों का अन्तर्भाव होते तक यथावश्यक एकाधिक औषधियां चुन लेनी चाहिए। इस चुनाव पद्धति को “त्याग-पद्धति” कह सकते हैं। क्योंकि इस पद्धति के अनुसार जिस औषधि के चिन्हों से रोगी के चिन्ह या चिन्ह-समूह मिलते हैं, उस औषधि के अतिरिक्त अन्य औषधियों का पहिले त्याग कर दिया जाता है। उदा: कल्पना कीजिए किसी बीमार में अन्यान्य चिन्हों के साथ साथ पानी के रंग का पेशाब भी एक चिन्ह है। यह चिन्ह केवल लवण में ही है। इसलिए लवण के अतिरिक्त अन्य सभी औषधियों का पहिले ही त्याग कर दिया जायगा। इसका मतलब यह हुआ कि उस रोगी को अन्य औषधियों की आवश्यकता न हो, लवण औषधि उसके लिए आवश्यक ही है। यह लवण औषधि निश्चित कर लेने पर लवण के चिन्हों में अन्तर्भूत होनेवाले रोगी के जितने भी चिन्ह हैं, उन्हें अलग कर दीजिए और कल्पना कीजिए कि रोगी के अवशिष्ट चिन्हों में दृश, चिकट, दुर्गन्धयुक्त पारवाना भी एक चिन्ह है। उक्त पद्धति के अनुसार विचार करने से इस चिन्ह पर “अस्थिसुधा” औषधि निश्चित मालूम पड़ती है। इस प्रकार हमने रोगी के लिए दो औषधियों का चुनाव कर लिया। परन्तु हनीमानीय लोग रोगी के सभी चिन्हों का जिसमें अन्तर्भाव होगा, ऐसी एक ही औषधि चुनेंगे। अब दूसरा उदाहरण लीजिए-कल्पना कीजिए कि उष्णता के कारण एक छोटा बालक बीमार है और उसे (i) बुखार है (ii) नाक से पानी बहता है और

(iii) जीभ पर लोहे के मुरचे के रंग की तह है। इसमें दूसरा चिन्ह लवण के अतिरिक्त और किसी में हो ही नहीं सकता। तीसरा चिन्ह भी लौहज्वालिक के सिवा और किसी में नहीं पाया जाता। लोहे के मुरचे के रंग की-सी तह और इध्मभूज्वालिक के चिन्हों में लिखी हुई “राई के रंग की तह” इन दोनों की पहिचान में यद्यपि गड़बड़ी होने की संभावना है अर्थात् राई के रंग की तह लोहे के मुरचे के रंग कीसी तह के समान दिखाई देने की यद्यपि संभावना है, तथापि उष्णता से इध्मभूज्वालिक के विकार उत्पन्न हो ही नहीं सकते, इसलिए उष्णता यह रोग का कारण और जीभ पर जमी हुई उस प्रकार की तह, यह चिन्ह-समूह लौहज्वालिक के अतिरिक्त अन्य किसी औषधि में हो ही नहीं सकता। इसलिए रोगी को लौहज्वालिक देना चाहिए और लवण भी देना चाहिए, परंतु हनीमानीय वैद्य इन दो औषधियों के बदले किसी एक औषधि का ही चुनाव करेंगे।

“रोगी के अमुक चिन्ह या चिन्ह-समूह अमुक औषधि के अतिरिक्त अन्य औषधियों में हो नहीं सकते।” इस त्याग-पद्धति से औषधियाँ का चुनाव करने में रोगी के थोड़े चिन्हों के आधार पर जो एक या अनेक औषधियाँ चुनी जाती हैं, उन औषधियों के चिन्हों में ही रोगी के अन्य चिन्ह भी रहते ही हैं। एक रेखा के दो बिन्दुओं पर दूसरी के दो बिन्दु रखने पर वह पूरी रेखा दूसरी से जैसे एक रूप हो जाती है, वैसा ही यह एक प्रकार है। उदा: उपर्युक्त बालक के जिन चिन्हों के आधार पर औषधियों का चुनाव किया गया, उन चिन्हों के अतिरिक्त गरम हथेली, खांसी, छाती में कुरकुर आवाज आदि अन्य चिन्ह भी औषधियों के चिन्हों से अपापत: एक रूप हो जाते हैं। और “बुखार तथा जीभ पर जमी हुई लोहे के मुरचे के रंग की तह कम होते ही जीभ सफेद दोखने लगी,” यह भी चिन्ह औषधि के चिन्हों से अपापत: ही एक रूप हो जाता है। क्योंकि लौहज्वालिक या लवण के विकार के अनन्तर जीभ सफेद होना, यह इध्मभूलवण का विकार पाया जाता है।

इस पद्धति के अनुसार थोड़े ही चिन्हों के सहारे औषधियों का चुनाव हो सकने के कारण और रोगी के अन्यान्य चिन्ह औषधियों के साथ अपापतः एकरूप हो जाने के कारण कुशल वैद्य थोड़े ही चिन्हों के सहारे रोगी के लिए औषधि निश्चित करता हुआ अन्य चिन्हों की ओर दुर्लक्ष कर सकता है। इसलिए रोगी की परीक्षा करते समय रोगी को ज्यादा कष्ट देने की जरूरत नहीं रहती। कभी कभी रोगी के चिन्ह इतने स्वल्प और अस्पष्ट होते हैं कि उन चिन्हों के आधार पर रोगी को कौनसी दवा देना चाहिए, इस संबंध में संशय बना रहता है। ऐसे समय संभवनीय औषधियों में से कोई तो भी एक अल्प मर्दन की दवा देना चाहिए। उससे रोग-वृद्धि या फायदा दिखाई दिया, तो उससे यह सिद्ध होगा कि रोगी को वही दवा चाहिए थी (क्योंकि रोगी को जो दवा चाहिए, वह दो जाने पर, शरीर पर उसका बहुत जल्दी असर होता है, और रोगी को जिस दवा की जरूरत नहीं रहती, वह दी जाने पर शरीर पर किसी प्रकार का असर जल्दी नहीं करती) इस पद्धति को “ चिकित्सा से औषधि निर्णय करना ” (Diagnosis by treatment) कहते हैं। संदिग्ध अवस्था में इसी पद्धति को अंमल में लाना शास्त्र-समत ही रहेगा। इतना ही नहीं कभी कभी रोगी पर जल्दी असर करने की दृष्टि से उसे संभवनीय सभी औषधियां एक साथ अल्प मर्दन को या आवश्यकता मालूम देने पर ज्यादा मर्दन की भी दे सकते हैं।

(२५) औषधियों के महत्त्व के चिन्ह

इस प्रकार “अमुक चिन्ह या चिन्ह-समूह अमुक ही औषधि में है, अन्य में नहीं” यही औषधि-चिन्हों के अध्ययन की रीति है। और प्रायः बार बार दिखाई देनेवाले अथवा एकही औषधि में पाए जानेवाले कुछ स्थल-विशिष्ट चिन्हों और समस्त सामान्य चिन्हों का औषधियों के चुनाव में विशेष उपयोग होता है। अतः यहां पर हम बतलायेंगे कि सामान्य चिन्हों और स्थल-विशिष्ट चिन्हों से क्या मतलब है।

(२६) चिन्हों के प्रकार

शरीर के किसी भी भाग में प्रकट होनेवाले या जो शरीर में एकसाथ सभी जगह पर पाये जाते हैं, उन्हें सामान्य चिन्ह कहते हैं और स्थल-विशिष्ट चिन्ह वे हैं जो स्थान-विशेष पर ही प्रकट हो सकते हैं। लवण का एक चिन्ह है—शरीर में कहीं पर भी पानी का स्राव होना, यह नाक में, छाती में, अंतड़ियों में या जठर में भी उत्पन्न हो सकता है, इसलिए यह सामान्य-चिन्ह कह लायेगा। इसी तरह विषम-ज्वर (वह आता है, अच्छा हो जाता है और फिरसे भी प्रकट होता है) यह भी एक लवण का चिन्ह है। यह शरीर में सर्वत्र व्याप्त हो जाता है। इसलिए यह भी सामान्य चिन्ह है। परन्तु खासी यह चिन्ह शरीर के एक ही स्थान पर हो सकता है। इसलिए यह स्थल-विशिष्ट चिन्ह है। स्थल-विशिष्ट चिन्ह सामान्य चिन्ह से ही उत्पन्न होता है स्वतंत्र रूपसे नहीं। उदा: लवण का चिन्ह है, पानी का स्राव होना, यह यदि श्वासनलिका में प्रकट हुआ, तो उससे खासी उत्पन्न होती है; यदि जठर में प्रकट हुआ, तो उससे कै होती है; यदि अंतड़ियों में प्रकट हुआ तो उससे दस्त (डायरिया) लगते हैं और यदि नाक में प्रकट हुआ, तो उससे छींक (सरदी) पैदा होती है। इस प्रकार एक सामान्य-चिन्ह से अनेक स्थल-विशिष्ट चिन्ह उत्पन्न होते हैं। जब कि ये स्थल-विशिष्ट चिन्ह सामान्य-चिन्ह से उत्पन्न होते हैं, तो सामान्य चिन्ह के नष्ट होने पर इन स्थल-विशिष्ट चिन्हों का लोप हो जाना स्वाभाविक ही है। इसलिए औषधियों का चुनाव करने में सामान्य चिन्हों का ही बहुत अधिक महत्त्व है और स्थल-विशिष्ट चिन्हों का बहुत कम। क्योंकि विशेष स्थान पर किसी भी दोष का चिन्ह प्रकट हुआ, तो स्थलविशिष्ट चिन्ह (रोग-विशेष) वही रहता है। उदा: लवण का चिन्ह है पानी का स्राव होना। यह यदि श्वास नलिका में प्रकट हुआ, तो खासी पैदा होती है, लेकिन उसी स्थान पर यदि लौहज्वालिका का सामान्य चिन्ह “ दाह ” प्रकट हुआ, या इधमभूलवण का सामान्य-चिन्ह “सूजन”

वहाँ प्रकट हुई या उसीका दूसरा सामान्य चिन्ह “ सफेद स्त्राव ” पैदा हुआ, तो भी खासी नामक रोग ही पैदा होगा। इसलिए इस खासी को देखकर ही रोगी को कौनसी औषधि चाहिए, इस बात का निर्णय नहीं किया जा सकता। वही पर (श्वासनलिका में) दिखाई देनेवाले सामान्य चिन्ह (दाह, पानी का स्त्राव, सूजन, सफेद स्त्राव) के आधार पर ही औषधि-निर्णय हो सकता है।

बार बार प्रकट होनेवाले कुछ स्थल-विशिष्ट चिन्ह भी महत्व के हैं। उदा: धमनी चौड़ी और स्पर्श के लिए कठिन, यह स्थलविशिष्ट चिन्ह है। तथापि लवण के विकारों में वह (कठिन धमनी) बार बार दिखाई देती है, इस लिए उस चिन्ह का भी उपयोग होता है। पेशाब का पानी का-सा रंग यह भी एक स्थल-विशिष्ट चिन्ह है, तथापि यह चिन्ह अकेले लवण के ही विकार में होने के कारण उसका बहुत अधिक उपयोग है। यह चिन्ह प्रायः बार बार प्रकट होता है।

(२७) इस प्रकार सभी उपयोगी सामान्य-चिन्हों की और बार बार काम में आनेवाले स्थलविशिष्ट चिन्हों की एक सूची बना लेना चाहिए। इन्हीं चिन्हों को आयुर्वेदिक पद्धति के अनुसार दोष चिन्ह कह सकते हैं। इन दोष-चिन्हों का अच्छी तरह अध्ययन करना चाहिए। क्योंकि औषधियों के चुनाव में इनका विशेष उपयोग है। पहिले इन दोष-चिन्हों की सहायता से औषधि या औषधियां चुननी चाहिए और बाद में औषधिगुणादर्श से यह पक्का विश्वास हो जाने पर कि उन औषधियों के चिन्हों से रोगी के सभी चिन्ह मिलते हैं, उन औषधियों का प्रयोग करना चाहिए।

रोगी में दिखाई देनेवाला कोई चिन्ह यदि ग्रंथ में लिखा हुआ नहीं भी मिलता, तथापि रोगी के अन्यान्य चिन्हों के आधार पर ही उपर्युक्त पद्धति से यदि औषधि चुन कर दी जाती है, तो रोगी का वह, ग्रंथ में अलिखित-चिन्ह भी नष्ट हो जायेगा।

इस प्रकार रोग को न जानते हुए भी हम अचूक औषधि-योजना कर सकते हैं ।

केवल चिन्हों के आधार पर ही औषधि निर्दिष्ट करने की जो उपर्युक्त पद्धति है, उसका सब से बड़ा गुण यह है कि रोग को न जानते हुए भी हम अचूक औषधि-योजना कर सकते हैं । रोग याने शरीर के विशिष्ट स्थान में दोषोत्पत्ति होने के कारण एक खास ढंग से बढ़नेवाला विशिष्ट चिन्हों का समूह हो है । इन चिन्हों में, स्पष्ट ही, कुछ स्थल-विशिष्ट चिन्ह और कुछ सामान्य चिन्ह होने हैं । स्थल-विशिष्ट चिन्हों की पहिचान कठिन होती है । अनेक बार तो वे शरीर के अदृश्य स्थान में प्रकट होने के कारण उनके सम्बन्ध में अनुमान ही करना पड़ता है और अनुमान निश्चयात्मक नहीं होता । इसलिए रोग पहिचानना कठिन हो जाता है तथापि उसपर तो तत्काल औषधि योजना आवश्यक ही है । इस लिए ऐसे समय सामान्य चिन्हों को देख कर ही औषधि-योजना कर सकते हैं । लेकिन वह गलत भी कदापि नहीं हो सकती । क्योंकि सामान्य चिन्हों से ही स्थलविशिष्ट चिन्ह उत्पन्न होते हैं और सामान्य-चिन्हों के नष्ट होने पर स्थल-विशिष्ट चिन्ह भी विनष्ट हो जाते हैं और इस औषधि-योजना-पद्धति में सामान्य चिन्हों पर विचार किया ही जाता है ।

(२८) अब सामान्य चिन्हों का अर्थात् दोष-चिन्हों का वर्णन किया जाता है—

(१) जल दोष

जल दोष के विशिष्ट लक्षण अर्थात् नमक से उत्पन्न होनेवाले और नमक से ही दुरुस्त होनेवाले विशिष्टलक्षण (चिन्ह)

प्रस्तावना—यह दोष आशुकारी या चिरकारी रोगों में भी अत्यधिक अवसरों पर दिखाई देता है । इस दोष के चिन्हों का अध्ययन-मनन रंजक पित्त के अर्थात् लौहज्वालिक के और सौम्य कफ के

अर्थात् सिकता के चिन्हों के साथ समान विषयक चिन्हों की पारस्परिक तुलना करते हुए करना चाहिए। आशुकारी रोग का प्रारम्भ बहुत कर के इस दोष के या रंजक पित्त के अर्थात् लौहज्वालिक के चिन्ह से होता है। इस दोष के लक्षण निम्न प्रकार हैं—

(१) मुख्य लक्षण—शरीर के किसी भी इंद्रिय का शुष्क (जलरहित) होना, या पानी से भरा हुआ होना या वहाँ से पानी जैसा स्त्राव होना-यह इस दोष का मुख्य लक्षण है। इसी को प्रतिश्याय कहते हैं। जब कोई इंद्रिय पानी से भरी हुआ रहती है या उसमें से पानी का स्त्राव होता है, तभी कोई एक दूसरी इंद्रिय शुष्क हो जाती है या एक ही इंद्रिय अदल-बदल कर शुष्क हो जाती है और पानी से भर जाती है या उसमें से पानी-सा स्त्राव होता रहता है। प्रतिश्याय के साथ साथ जहां प्रतिश्याय हुआ हो, वहां फीकापन या श्यामल लाली, गरमी या ठण्ड, खुजली, अग्न, दुःख, सूजन और न जमनेवाले फीके पतले खून का स्त्राव-ये चिन्ह भी कभी कभी रहते हैं। इस के साथ ही कम या ज्यादा जोर का बुखार भी कभी कभी रहता है। दुख दबाने से कभी कम होता है और कभी दबाने से बढ़ता है; कभी वह अपने आप प्रकट होता है; कभी वह दबाने से या रुग्ण स्थान के हिलने से होता है या बढ़ता है। रुग्ण स्थान में कभी कभी अतिविज्ञान भी होता है, अर्थात् किसी भी चीज का किंचित् स्पर्श मात्र ही बहुत जोर का और असहनीय मालूम पड़ता है और वह सहन नहीं होता। प्रतिश्याय नाभक इस मुख्य चिन्ह से ही अन्य सभी चिन्ह और रोग उत्पन्न होते हैं। यह यदि नाक में हुआ, तो वह सरदी या जुकाम कहलाता है, गले में हुआ, तो खँसी; स्वरेन्द्रिय में हुआ तो “आवाज बैठना;” फेंफड़ों में हुआ तो वह फुफुस प्रतिश्यायज्वर, दमा, या राजयक्ष्मा; फुफुसावरण में हुआ, तो आर्द्र पार्श्वशूलज्वर; आमाशय में हुआ, तो उलटी; मलाशय में हुआ तो पतले दस्त या मलबद्धता; त्वचा में हुआ तो खुजली या सफेद

कोढ़; जोड़ों में हुआ, तो वह खुडरोग (गठिया बात) ; मूत्र पिण्ड में हुआ, तो वह मूत्रसादरोग और आँखों में हुआ, तो वह नेत्राभिस्यंद अधिमंथ आदि कहलाता है । रोगों की यह सूची न पूरी है और न उसे कोई पूरी ही कर सकता है । क्योंकि शरीर में अनेकों इंद्रिय हैं और एक एक इंद्रिय के अनेकों भाग हैं । प्रत्येक भाग में यदि यह दोष उत्पन्न हुआ, तो उतने ही अर्थात् अनन्त रोग माने जायेंगे । इसलिए रोगों की सम्पूर्ण सूची बनाना “ हरि गुन लिखा न जाय ” की भांति ही असम्भव है । हमने तो जिज्ञासुओं को समझाने की दृष्टि से कुछ प्रसिद्ध रोगों के ऊपर उदाहरण मात्र दिए हैं । इंद्रिय के जिस भाग में यह दोष होगा उस भाग का कार्य बिगड़ कर वहां अनेक रोग पैदा होंगे । उदा: नेत्र गोलक के ऊपरी आवरण में यदि यह रोग हुआ, तो वह मामूली नेत्राभिस्यंद (आँखें आना) रोग कहलाता है । किन्तु नेत्रगोलक के अन्दर के आवरण में हुआ, तो अधिमंथ नामक अत्यन्त पीड़ादायक एवं दृष्टिघातक रोग होता है । यही दोष कर्मतंतुओं में हुआ, तो कम्प और स्तम्भ उत्पन्न होते हैं और यदि शानतंतुओं में हुआ, तो तंतुशूल जैसे महाकष्टप्रद रोग उत्पन्न होते हैं । तात्पर्य इंद्रियों के किसी भी भाग में कोई विकृति हो गई या वे दोषाक्त हो गए, तो उनके कार्यों के अनुसार भिन्न भिन्न चिन्ह उत्पन्न होते हैं । तथापि उन चिन्हों में प्रतिश्याय यह प्रमुख चिन्ह होता ही है और यह अच्छी तरह ध्यान में रखें कि इसी के आधार पर यह दोष निश्चित किया जा सकता है ।

(२) स्राव—इस दोष का स्राव पानी जैसा ही पतला और पानी के ही रंग का होता है । वह बहुधा श्लेष्म-युक्त होता है । कभी कभी तो वह नमकीन या खट्टा भी होता है । कभी कभी इतना तीक्ष्ण होता है कि जहां से बहता है, वहां की त्वचा तक खा बैठता है । यह स्राव जब पेट मेंसे आता है, तो वह कभी कभी पित्त युक्त हो जाने के कारण खट्टा या कड़वा और पीला या हरा होता है । कभी कभी उसमें खट्टी बास भी आती है । कभी कभी यह स्राव इतना घना और चिकना होता है कि वह त्वचा से जल्दी छूटता नहीं । ऐसे स्राव को तारदार स्राव कहते हैं । घाव से

पानी-जैसा स्राव होता है। स्राव कभी कभी इतना तीक्ष्ण होता है कि जहां लगता है, वहां वह लाली, दुख, खुजली या उभार पैदा करता है। स्राव कभी कभी दुर्गन्ध युक्त होता है और कभी कभी पीप-जैसा। कभी कभी स्राव चिक्कट भी होता है।

(३) ज्वर-इस दोष में मंद या तीक्ष्ण ज्वर भी रहता है। यदि ज्वर तीक्ष्ण हो, तो उसके जोरदार चढ़ाव-उतार के समय देड़ या दो डिग्री से ज्यादा डिग्री का अंतर रहता है। ऐसे ज्वर को विषम ज्वर कहते हैं। यदि ज्वर मंद हो, तो विशेष अन्तर नहीं रहना। ऐसे ज्वर को बारीक ज्वर कहते हैं। ज्वर कभी कभी इतना तीक्ष्ण होता है कि वह कुछ दिन तक उतार खाता ही नहीं और बाद में चढ़ाव-उतार शुरू होता है। बारीक ज्वर, बारी का ज्वर, याने संतत विषमज्वर अर्थात् पूर्णतः न उतरनेवाला विषमज्वर या पूर्णतः उतरनेवाला याने ९७ ° तक उतार खानेवाला विषमज्वर। यह संतत याने रोज दो बार आनेवाला, अन्येषु याने रोज आनेवाला, तृतीयक या तिजारा याने एक दिन आड़ आनेवाला, या चतुर्थक याने दो दिन आड़ आनेवाला होता है। कभी कभी पंचमक, षष्ठक, नवमक आदि स्वरूप का भी वह होता है। जीर्णज्वर याने क्वीनीन या चिरायता आदि में दब जाने के कारण आनेवाला बारीक बुखार। ज्वर के पूर्व कभी कभी जाड़ा लगना या आक्षेप आना। छोटे छोटे बच्चों को जाड़े के बदले कभी कभी आक्षेप आते हैं। आदत जैसा याने रोगी को मालूम न पड़नेवाला ज्वर।

(४) धमनी—इस दोष में धमनी कभी चौड़ी कभी बारीक, कभी तेज, कभी मंद, कभी स्पर्शके लिए कठिन, कभी मुलायम, कभी नियमित कभी अनियमित, या विरामयुक्त याने बीच बीच में रुकनेवाली या कभी बहुत ही ऊंची उड़नेवाली होती है। कभी मामुली ऊंचीसे कम उंच उड़ती है। धमनी के उड़ने की संवेदना भी कभी होती है।

(५) जीभ—जीभ साफ और शुष्क या पानी से भरी हुई या

झाग-भरी होती है। पुराने रोगी में जीभ कभी कभी चिकनी और चमकीली याने जीभ के नीचे के हिस्से की जैसी होती है। कभी कभी दरारदार और कभी कभी नीले रंग की भी होती है। जीभ पर सफेद-सी तह, नक्शे जैसी कहीं साफ तो कहीं सफेद तह जमने के कारण सफेद भी रहती है।

(६) रुचि--रुचि में बहुधा फीकापन। रुचि कड़वी, खट्टी, नमकीन या घिनौनी। खांसते खांसते मुंह में घिनौनी रुचि पैदा होनेके कारण खाने में कोई रुचि मालूम न पड़ना।

(७) चेहरा—चमकदार, लाल-सा चमकीला, या फीका सफेद-सा पीला-सा या मट मैला, फूला-सा, गाल ऊपर उठे हुए-से दोखते हैं।

(८) चयापचय—यह दोष उष्णता से भी बढ़ता है और ठंड से भी बढ़ता है। यह दोष नियमित समय के बाद कम और ज्यादा होता है जैसे बारी का बुखार। इस दोष के बढ़ने का समय अर्थात् अवधि चांद्रमास की ही कभी कभी होती है, अर्थात् यह दोष अमावस्या और पूर्णिमा को बढ़ता है। यह दोष मानसिक श्रम चिंता, पठन, भाषण, जागरण, मैथुन, जंडान्न, अतिमात्र भोजन आदि से बढ़ता है और उपवास एवं शारीरिक श्रम करने से कम होता है।

खट्टा, तोखा, कड़वा, और नमकीन पदार्थ खाने से, प्याज, मूंगफली लहसुन, गोभी, (पत्तागोभी, फूल गोभी, और गांठ गोभी) गुड़, ज्यादा शक्कर, गेहूं, शराब, तमाखू, पारे का अपप्रयोग (दुरुपयोग). तेल या घी में तले हुए या भुंजे हुए पदार्थ, मादक पदार्थ, शरीरद्रव का नाश, आलस्य, बरसात या ठंड के दिनों में दिनको सोना, उजाला या समुद्र-तट-वास से यह दोष बढ़ता है। बस्ती से, कड़े बिछौने पर सोने से, उजाले से दूर रहने से यह दोष कम हो जाता है। अंडे का पीला हिस्सा सेवन करने से यह दोष बढ़ता है। लेकिन अंडे का जो सफेद हिस्सा है, उसके सेवन से

यह दोष बढ़ता नहीं। पानो ज्यादा पाने से या कम पीने से भी यह दोष बढ़ता है।

(९) पचनेन्द्रिय और पचनविकाङ्ग-बहुत भूख लगना, या भूख कम लगना, बहुत भूख लगने पर भी, थोड़ा ही खाने से तृप्ति हो जाना, बहुत-सा खाने परभी रक्त, मांस ताकत न बढ़ना या रक्त, मांस ताकत घटना, अन्न का रक्त न बनना, नमक खाने की खूब इच्छा होना, या नमक से घिन लगना। पथरी का बढ़ाना, पथरी और यकृत दोनों का एक साथ बढ़ना और कठिन होना (यकृत काठिन्य रोग) यकृत में या पथरी में दुख, यकृत में सुई टोंचने जैसा दर्द, खाते समय पसीना आना, पिष्टल अन्न न पचना, केवल द्रव पदार्थ की, या केवल अन्न की या दोनों प्रकार की उलटी होना, सूखी ओकाई, आमाशय में आम्लद्रव पैदा होना, स कारण मुह खड़ा लगना या भोजनोपरान्त दो-तीन घंटे बीतने पर आमाशय में या स्नेहपाचनी (आमाशय से निकली सुई नली) में दुखना, पेट में “गुरगुर” आवाज होना, पेट दुखना, खट्टी कड़वी, नमकीन या पानीके स्वाद की उलटी होना।

(१०) मल-मलबद्धता, बहुत ही सूखा पाखाना, पतला दस्त, पाखाने के साथ रक्त साव, बहुत-सा पाखाना, बकरो की लेंड़ी जैसा पाखाना, अदलबदल कर कभी कब्ज औ कभी दस्त होना लाल या बहुत पीला पाखाना, झाग-सा पाखाना, चिक्कट पाखाना, पाखाने में कभी कभी दुर्गन्ध, फुरफुर आवाज करनेवाला पतला दस्त, सख्त पाखाना इसे कभी कभी खून की लकीर-से लगी रहती है, पाखाना होता है या हवा निकलती है यह न समझने के कारण हवा छोड़ते समय पतला पाखाना ही होना (चिरकना) गुदगदर पर दारें पड़ना, गुदद्वार पर खुजलाहट, पतलेदस्त का रंग कभी कभी धुले हुए चावलके पानी जैसा होता है, गुदकाण्ड में दर्द।

(११) मूत्र-फीका पेशाब, कभी कभी पेशाब पानी के रंग का,

या मामूली पेशाब, में जो पीलापन होता है, उससे कम पीला पेशाब, लाल पेशाब, पेशाब में खून, अधिक मात्रा में पेशाब कम पेशाब, गंदला पेशाब (बाढ़ के पानी-जैसा अपार दर्शक), बड़ी देरतक बैठने के पीछे पेशाब उतरना पेशाब में मूत्राग्ल, पेशाब में पीप, पेशाब में शक्कर, पेशाब में श्वेतकल्क, मूत्राशय में मूत्राग्ल यदि कंकड़ रूप जम गया, तो शस्त्रक्रिया से उसे निकाल कर वैसा फिर से न हो, इसलिए लवण औषधि देना चाहिए। मूत्राशय का कंकड़ मूत्राग्ल और अस्थिसुधा के मिश्रण का या Calcium oxalate का हो तो उसे निकलवा कर वह फिरसे न हो इसलिए लवण और अस्थिसुधा देना चाहिए। मूत्रपिण्ड में कंकड़ फिर से उत्पन्न न हो, इसलिए लवण देना चाहिए और उसकी सहायता के लिए अस्थिसुधा (यदि इसके चिन्ह हों, तो) देना चाहिए। पेशाब में लाल पथरी जमना पेशाब में ईंट के चूर्ण-सा गाद (Sediment) जमना, मूत्र में Calcium oxalate होने पर उसके लिए लवण और अस्थिसुधा देना, मूत्रपिण्ड में मूत्र उत्पन्न न होने के कारण मूत्र न होना (इस में मूत्राशय पर आघात-ध्वनि “दन”-सी होती है।

(१०) निद्रा बहुत ज्यादा नींद आना, या नींद न आना, सुस्ती, ज्यादा नींद, नींद लेनेपर भी थकावट अनुभव करना।

(११) त्वचा—त्वचा फटना, त्वचा पर छोटी या बड़ी पानी से भरी या जिनमें से पानी बहता हो, ऐसी फुन्सियां (Vesicle), खुजाल, यह खुजाल कभी कभी बहुत जोर की होती है, जोर से खुजाने पर मुंह में कभी कभी फाका या नमकीन स्वाद, फुन्सियों से कभी कभी पतला फीका खून बहता है, मोती के रंग की फुन्सियां (Pimple), लाल फुन्सियां (इनमें पतला स्राव नहीं रहता), लाल बारीक फुन्सियां (Padpule), त्वचा पर नीले या लाल दाग, त्वचा में पीलापन, त्वचापर सफेद दाग (इसी को सफेद कोढ़ कहते हैं), इस दाग में लाल-सी छटा या खुजली होती है होठों का फटना, गुदद्वार का फटना, त्वचा पर के छिलके उतरना, त्वचा मोटी होकर उसपर मोटी खुरदुरी, न निकलने

वाली खिपली पड़ना, इसमें क्वचित् ही खुजली होती है, किन्तु दरारें पड़ जाती हैं, इसे अंग्रेजों में सोरियामिस (Psoriasis) कहते हैं चीटियों के चलने-जैरी संवेदना होती है वह भाग ठंडा और स्पर्शज्ञानरहित अर्थात् बधिर होता है, पसीने में खट्टी बास, खौंसी (dandruff)

(१४) रक्तस्त्राव—बढ़ता हुआ खून फीका पतला होता है, और ज्यादा देर रखने पर भी जमता नहीं ।

(१५) मानसिक चिन्ह—बड़बड़, मद्यमान से या धूप लगने से या अन्य किसी कारण से मस्तिष्क का पानी कम हो जाने के कारण उत्पन्न होनेवाली बड़बड़, मूर्च्छा, स्मरण-शक्ति का नाश, पागलपन अर्थात् विचार शक्ति का नाश, रोने की प्रवृत्ति, रोकर आंसू बहाना, मानसिक श्रम से थकावट मालूम होना, भूतोनमाद रोग ।

(१६) शारीरिक चिन्ह—शरीर दुबला या बहुत मोटा, यह मोटापन चरबी के बढ़ने से आता है, और उससे नाभि उखली जैसी गहरी हो जाती है, हृदय बड़ा होना, अन्तर्गेल (हरनिया) ठंड लगना, तन्तुशूल (Neuralgia) अन्न का रक्त न बनना, पिण्डवृद्धि, रक्त के सफेद कण बढ़ना और उससे शरीर सफेद-सा दिखाई देना, व्रण को स्पर्श सहन न होना स्पर्शासहिष्णुता, व्रण से रक्त स्राव होना ।

(१७) हाथ-पैर—तलुओं में आग हथेली में आग, तलुवे गरम या ठंडे, हथेली गरम या ठंडी, हथेली में पसीना छूटना, तलुओं में पसीना छूटना, हाथ पैर के अग्रभागों में चीटियों के चलने की—सी संवेदना, ठंडक और स्पर्शज्ञान का अभाव, नखरोग ।

(१८) संधियां और हड्डियां—संधियों में ठंडक, संधियों में हिलते समय कड़कड़ आवाज, रीढ़ में ठंडक, संधियों में प्रतिश्याय (इसमें दर्द, सूजन, लाली आदि रहती है) हड्डियों में दर्द ।

(१९) आंखें—आंखों की आग, आंखों में पानी आना, पलकें

चिपकना, आंखें खुजलाना, आंखों को उजाला सहन न होना, आंखों के सामने बिजली जैसी चमकना ।

(२०) मांसपेशियाँ--गला-जैसा लगना, ज्वरयुक्त या ज्वर रहित स्तम्भ या कम्प, बदन थर थर कांपना, मस्तिष्क में रक्त स्राव के कारण होनेवाला लकवा ।

(२१) दांत और मसूड़े--दांत हिलना, दांत किटकिटाना, मसूड़ों से किसी भी निमित्त खून बहना, दांतों में पोलापन, दांतों में दर्द । टंड, उष्णता अथवा स्पर्श दांतों को सहन न होना ।

(२२) उतार--पाग, कुनीन, (Nitrate of silver) तथा विभिन्न प्राणिज एवं खनिज विषों पर लवण औषधि उतार है । बिच्छू, कणखजूर और मंडलीसांप के विष पर भी लवण औषधि उतार है । यह औषधि जितनी ज्यादा मर्दन की दी जायगी बिच्छू के जहर का असर उतने ही जल्दी दूर होगा । लाख मर्दन की औषधि देने से दो चार मिनट के अन्दर ही विष-त्राधा नष्ट होती है । (ग्रंथ का सपदंश प्रकरण देखिए) लवण पर कर्पूर उतार है, कर्पूर सूंघना या कर्पूर के अर्क के दो चार बूंद पानी या शकर के साथ देना । लवण से यदि बारी का बुखार बढ़ गया हो, तो थोड़ी कुनीन दे देना चाहिए । फलतः औषधि-कृत रोग-वृद्धि कम हो जाती है ।

(२३) सम्बन्ध--इस दोष से श्वेत कफ के अर्थात् इधम-भूलवण के (Kali Mur) या मधुर कफ के अर्थात् अस्थिसुधा के (Calcar Phos) चिन्ह उत्पन्न होते हैं ।

(२४) घातक लक्षण--बहुत तेज बुखार, अर्थात् १०४° से ज्यादा बुखार या घमनी बहुत तेज चलना अर्थात् बड़े आदमी की घमनी एक मिनट में ४०° से भी ज्यादा समय तक उड़ती है, तो इसे मारक लक्षण समझना चाहिए, अन्न का रक्त न बनना भी एक मारक लक्षण है ।

(२५) पथ्यकर आहार और आचरण--शारीरिक श्रम, ठंड, और गरमी से बचाव करना, लंघन (उपवास) बस्ति, कड़े बिछौने पर सोना,

अंधेरे में रहना, नमक कम खाना । गाय का दूध, धान को लाई, चावल और मूंग को दाल हितकर हैं । गुड़ या शकर अहितकर है । जिन्हें पिष्टल पदार्थ हजम ही नहीं होते, वे धान की लाई, चावल या अन्य पिष्टल पदार्थ नहीं लें । ऐसा पानी पीयें जो न गरम है न ठण्डा है ।

(२) रंजक पित्त

रंजक पित्त के विशिष्ट लक्षण याने लौहज्वालिक से उत्पन्न होनेवाले और उसी से अच्छे होनेवाले विशिष्ट लक्षण (चिन्ह) प्रस्तावना— यह दोष बहुत से आशुकारी रोगों में दिखाई देता है । इस दोष के चिन्हों का अध्ययन मनन जलदोष के अर्थात् लवण के और सौम्य कफ के अर्थात् सिकता के चिन्हों के साथ समान विषयक चिन्हों की पारस्परिक तुलना करते हुए करना चाहिए । आशुकारी रोगों का प्रारम्भ बहुधा इस दोष के या जलदोष के चिन्हों से होता है । इसदोष के लक्षण निम्न प्रकार हैं—

(१) मुख्य लक्षण — दाह' इस दोष का मुख्य लक्षण है । दाह याने लाली और उष्णता । इसके साथ बहुत कर के लगातार दर्द, या दबाने हिलने-डुलने आदि से दर्द (Soreness) या आग भी होती रहती है । दर्द दबाने से या हिलने से बढ़ता है । यदि लाली में कुछ कालापन है या उसके साथ खुजली भी है, तो यह लवण का चिन्ह समझना चाहिए । लाली और उष्णता यदि कम है, तो यह लवण का या सिकता का चिन्ह समझना चाहिए । दाह के साथ थोड़ा बहुत तेज बुखार और थोड़ी बहुत सूजन भी होती है । इस दोष में होने वाला दर्द शरीर के रुग्ण भाग में उष्णता लगने से बढ़ता है और ठंड लगने से कम होता है । लेकिन इस पर ठंडे उपचार नहीं करना चाहिए । क्योंकि यह विपरीत चिकित्सा होगी । परन्तु सौम्य रूप से उष्णता का उपचार करने से विपरीतार्थकारो चिकित्सा होगी । इसलिए उष्णतोपचार कर सकते हैं । परन्तु उष्णता जलदोष भी उत्पन्न करती है, इसलिए जलदोष होने की संभावना रहेगी अतः ऐसे अवसर पर

उष्णतापचार करने के बदले लौहज्वालिक का उपचार करना सबसे अच्छा है। दोष कौनसा है, यह जानने भर के लिए उष्णता या ठंडक का प्रयोग करके देख सकने हैं। यह ध्यान में रखना चाहिए कि किसी भी घाव, लचक मार या झुलसन में यही दोष होता है। “लवण” प्रकरण में वर्णन किए अनुसार इस दोष के प्रमुख चिन्ह “दाह” से भी शरीर के विभिन्न अंगों में असंख्य रोग प्रकट हुआ करते हैं। यदि यह दोष नाक में पैदा हुआ, तो थोड़ा और गाढ़े मवाद का जुकाम होता है; यदि गले में पैदा हुआ तो वैसा ही मवाद या बिना मवाद की ख़ासी पैदा होती है; यदि स्वरेन्द्रिय में पैदा हुआ, तो गला बैठ जाता है; फेफड़ों में हुआ, तो फुफ़ुसदाहज्वर कहलाता है; फुफ़ुसावरण में हुआ, तो वह शुष्क पार्श्वशूलज्वर कहलाता है; आमाशय में हुआ, तो केवल अन्न को उलटी होने की बीमारी पैदा होती है; शरीर की सन्धियों में हुआ, तो सन्धि-दाह; मूत्रपिण्ड में हुआ, तो मूत्रसाद; आँखों में हुआ, तो नेत्राभिस्यन्द... इस प्रकार अनेकानेक रोग इसी एक दोष से पैदा होने हैं। ये रोग असंख्य होने पर भी, उनमें दाह यह प्रमुख चिन्ह रहता ही है और उसीके आधार पर दोष कौनसा है, यह पहिचाना जाता है। यदि लवण से होनेवाला रोग और लौहज्वालिक से होनेवाला रोग एक ही इंद्रिय में पैदा हुआ, तो भी उनको अलग अलग मानना चाहिए। अतः लौहज्वालिक और लवण से एक ही इंद्रिय में उत्पन्न होनेवाले रोगों के भिन्न भिन्न नाम रखे हैं— उदा: फुफ़ुसदाहज्वर (Lobar Pneumonia) और फुफ़ुसप्रतिश्यायज्वर (Broncho pneumonia); संधिदाहज्वर (Rheumatism) और गठिया रोग (gout); शुष्क पार्श्वशूलज्वर (Dry Pleurisy) और मार्द्र पार्श्वशूलज्वर (Pleurisy with effusion). अन्य सभी इंद्रियों में इसी प्रकार रोगों के युग्म पाए जाते हैं लेकिन उनके नाम अलग अलग नहीं रखे गए हैं। दोषभिन्नत्व के ज्ञान का अभाव ही इसका मूल कारण है। जैसे नेत्राभिस्यन्द यह दो प्रकार का रोग होकर भी उसके भिन्न नाम नहीं हैं

नथापि चिन्हों की भिन्नता के आधार पर दोष-भिन्नता पहिचानना पड़ता है और तदनुरूप चिकित्सा करना पड़ता है। खुजली, पानी का झाव, पड़के चिपकना, लाली कम होना ये लक्षण के चिन्ह हैं। इसलिए आँख के इन रोग पर लक्षण दिया जायगा लेकिन आँख के दूसरे प्रकार के रोग पर इन चिन्हों के अभाव से लौहज्वालिक के चिन्ह समझ कर लौहज्वालिक दिया जायगा। इसी प्रकार अन्यान्य रोगों एवं औषधियों के विषय में भी समझना चाहिए।

(२) स्नाव—इस दोष में बहुधा स्नाव नहीं होता और स्नाव हुआ ही, तो वह शुद्ध रक्त का या फेनिल, गाढ़े दूध जैसे सफेद श्लेष्म का होता है। इस दोष के स्नाव में चिकटापन नहीं होता।

(३) ज्वर इस दोष के साथ रहनेवाला ज्वर समज्वर, अर्थात् एक-सा स्थिर रहनेवाला होता है याने इसके आत्यंतिक चढ़ाव उतार की उष्णता में देड़ दो डिग्री से ज्यादा अंतर रहता नहीं। मंथर ज्वर याने जो समज्वर धीरे धीरे शुरू होकर दिन-पर-दिन बढ़ता जाता है अर्थात् ज्यादा से ज्यादा चढ़ाव और ज्यादा से ज्यादा उतार के समय भी पहिले दिन की अपेक्षा ज्यादा रहता है, वह ज्वर। समज्वर एकबार अच्छा हो गया, तो वह फिर से आता नहीं अर्थात् बारी के बुखार का रूप ग्रहण करता नहीं। जिस बारी के बुखार में केवल अन्न की उलटी होती है, वह बारी का बुखार। बुखार के पहिले कभी कभी जाड़ा लगता है या आक्षेप आते हैं, पूरक का अनियमित विषम ज्वर।

(४) धमनी—धमनी चौड़ी, मुलायम, तेज और मेंढ़क की भांति बहुत फैंची उड़ती है, उछलती है।

(५) जीभ—जीभ स्वच्छ रहती है, या उस पर लोहे के मोरचे जैसी सड़ रहती है।

(६) रुचि—इस दोष में मुँह की रुचि बिगड़ती नहीं और यदि बिगड़ी भी, तो वह आम्ल होती है।

(७) चेहरा—तेजस्वी चेहरा, फीका, लाल या हरा चेहरा, गाल दबे हुए से ।

(८) चयापचय—यह दोष उष्णता से बढ़ता है परन्तु ठंड से कम होता है । शरीर के किसी भाग में ठंड लग कर वहां से दूर के भाग में खून जाता है और जहां जाता है, वहां यह दोष उत्पन्न होता है । खट्टा या तीखा पदार्थ, घी में या तेल में तले हुए या भूँजे हुए पदार्थ, तेल, गेहूँ, मांस, जड़ान्न, बहुत अविक्रमोजन और अगडे का पीला हिस्सा-(सफेद हस्से के सेवन से यह दोष बढ़ता नहीं) इन के सेवन से यह दोष बढ़ता है । मार, हिलना डुलना, झनकार, जागरण, और शारीरिक श्रम से यह दोष बढ़ता है । नींद से, आराम करने से, सुख कर, शीतल जल पीने से यह दोष घटता है ।

(९) पचनेन्द्रिय और पचनविकार—भूख न लगना, केवल अन्न को उलटी यह उलटी का अन्न कभी कभी बहुत ही खट्टा, लाल-भड़क या काले रंग की खून की उलटी, खून की थक्कों की उलटी ।

(१०) मल—पाखाना लाल या हरा, शुष्क मलमें चिकटापन या बदनू नहीं, पतला दस्त, ठंडा जल पीने से कम होनेवाली मलबद्धता ।

(११) मूत्र—मूत्र लाल होना, मूत्र में रक्त होना, मूत्र अधिक होना (बहुमूत्र), मूत्रपिण्ड में मूत्र उत्पन्न न होने के कारण मूत्र न होना—इसमें मूत्राशय पर “दन”-सो आघात-ध्वनि होती है ।

(१२) निद्रा—नींद न आना, दोपहर में सुस्ती ।

(१३) त्वचा—त्वचा लाल, फीकी, या मटमैली पीली । त्वचा-पर लाल दाग ! न खुजलाने वाला लाल-सा उभार ।

(१४) रक्तस्राव—लाल-भड़क रंग का और बाहर निकलते ही जमने-वाला रक्तस्राव, लाल-भड़क खून के थक्के निकलना ।

(१५) मानसिक चिन्ह—तीव्र ज्वर और चौड़ी, तेज, ऊंची उड़नेवाली धमती-इन चिन्हों से युक्त बढ़बढ़, मूर्च्छा (?) आसपास जो हो रहा है, उस ओर ध्यान न जाना, पागलपन ।

(१६) शारीरिक चिन्ह—शरीर कमजोर और पीका। मटमैला, पीला शरीर। दुबला शरीर।

(१७) हाथ-पैर—हथेलियों में उष्णता।

(१८) सन्धियां—संधियों में दाह।

(१९) आंखें—आंखों की आग, आंखों के नील वर्तुल।

(२०) मांसपेशियां—थकावट मालूम होना। तेज बुखार के साथ स्तम्भ या आक्षेप (कम्प) धमनी-विस्तार, यह धमनी-जैसा उड़ता रहता है। मस्तिष्क में रक्तस्राव के कारण होनेवाला लकवा।

(२२) उतार—इस औषधि पर कर्पूर उतार है।

(२३) सम्बन्ध—इस दोष से श्वेत कफ के अर्थात् इन्धुमूलवर्ण के कठिन कफ के अर्थात् चित्रादमा के, या पूयपित्त के अर्थात् कुलनार के चिन्ह उत्पन्न होते हैं।

(२४) घातक चिन्ह—तीव्रज्वर, अर्थात् 104° से ज्यादा बुखार और उसीके साथ बहुत तेज अर्थात् प्रतिमिनट में 1° से भी ज्यादा समय तक उड़नेवाली धमनी।

(२५) पथकर आहार और आचार—लघन, विश्रांति, नौद, मुल्लकर शीतल-जल, गरमी से बचाव, गाय का दूध, मूग की दाल, चावल, धान की लाई।

(३) पूय पित्त

पूय पित्त दोष के विशिष्ट लक्षण याने कुलनार से उत्पन्न होनेवाले और उसी से अच्छे होनेवाले विशिष्ट लक्षण (चिन्ह)

प्रस्तावना—इस दोष के चिन्हों का अध्ययन-मनन सौम्यकफ अर्थात् सिकता के चिन्हों के साथ समान विषयक चिन्हों की पारस्परिक तुलना करते हुए करना चाहिए।

(१) मुख्य लक्षण—शरीर में कहीं पर भी पीप पड़ना—इस दोष का मुख्य लक्षण है। पीप में दुर्गन्ध नहीं होती, इस पीप के साथ खून

भी प्रायः बहता है। व्रण या फोड़े पर की सूजन नष्ट होने पर भी पीप बहती ही रहती है। घाव या छुलसे हुए अंग से दुर्गन्ध रहित पीप बहती है। व्रण न होने पर भी श्लेष्मल त्वचा से पीप बहती है। नई बनी हुई नलिका से पीप बहना। कुछ रोगों की द्वितीय या तृतीय अवस्था में यह दोष अर्थात् पीप उत्पन्न होती है। यह पीप यदि शरीर के पृष्ठभाग पर हो, तो वह सहज ही बाहर आने का रास्ता बनाकर निकल जाती है, परन्तु यदि वह अन्तस्थ भाग में हो, तो आसानी से बाहर निकल नहीं सकती। वह खून में मिलती है। इस कारण अनियमित ज्वर, जाड़ा लगना, या पसीना आना आदि और भी चिन्ह प्रकट होते हैं। पीप के दबाव से वेदना, भूच्छा आदि चिन्ह भी उत्पन्न होते हैं। ऐसे रोग पर कुलनार के साथ लौहज्वालिक और इधमभूलवण भी देना पड़ता है। क्योंकि यह रोग दाह से ही उत्पन्न होकर पीप में परिणत होता है।

(२) स्त्राव—दुर्गन्धरहित पीप हो इसका स्त्राव है। यह ध्यान रहें कि पीप यह श्लेष्मा या पूयश्लेष्मा (अर्थात् पीप और श्लेष्मा के मिश्रण) से भिन्न है। पीप चिकट या गोठा जैसी नहीं होती। परन्तु श्लेष्मा या पूयश्लेष्मा चिकट और गोठा जैसा होता है। पीप पाना में डलने पर पानी में मिल जाता है फिर पेंदे में धीरे धीरे उसकी तह जमता है। लेकिन श्लेष्मा पानी पर तैरता है। पूयश्लेष्मा पानी में डूबता है परन्तु पेंदे में उसकी तह समतल न जमकर उस के एक पर एक थक्के जमते हैं।

(३) ज्वर—पीप पड़ने पर कभी कभी ज्वर भी आता है। यह ज्वर आदत के जैसा रोज आता है, मतलब यह कि रोगी को उस ज्वर का पता ही नहीं चलता। शामको आनेवाला और पैसे से शुरू होनेवाला जाड़ा लगकर आनेवाला बहुत पुराना बारी का बुखार।

(५) जीम—जीम पर चिकना मिट्टी के रंग की या नारंगी रंग की तह, जीम के पिछले हिस्से पर पीली तह।

(६) रुचि—तीखी या फीकी रुचि, कभी कभी मीठी-सी, खट्टी या साधून जैसी।

(७) चयाचय-यह दोष पानी में काम करने से, कपड़े धोने से नम (गीली) हवा से, बहुत पानी पीने से या उष्णता से भी बढ़ता है । रूग्ण अंग के हिलने से यह दोष बढ़ता है ।

(९) पचनेन्द्रिय और पचनविकार—बहुत भूख या प्यास, मिच-मिचाहट, चक्कर, आमाशय में आग, पेटदर्द, पेट में “गुड़ गुड़” आवाज ।

(१०) मल—आदत के जैसे आनेवाले बुखार के साथ साथ मल बढ़ता ।

(११) मूत्र आदत के जैसे बुखार के साथ साथ लाल पेशाब, पेशाब में श्वेतकल्क ।

(१२) निद्रा—शरीर के किसी भी स्थान में पीप पड़ने के साथ ही नींद न आना ।

(१३) त्वचा—त्वचा पर पीप-भरी बड़ी फुन्सियां, मंद खुजली, तलुओं में खुजली ।

(१५) मानसिक चिन्ह—स्मरण-शक्ति या चेतना का एकाएक नाश ।

(१६) शारीरिक चिन्ह—हृदय, फेफड़े उदर, मस्तिष्क आदि के दोहरे आवरण के अन्दर पीप का स्राव, व्रण में हराम गोشت (Prond Flesh) ।

(१७) हाथ-पैर-पीप के कारण आनेवाले बुखार में तलुओं की आग ।

(२०) सांसपेशियां—थका-सा लगना ।

(२१) दांत और मसूड़े—दांत और मसूड़ों के बीच से पीप बहना, किंचित् कारण से मसूड़ों से खून निकलना,

(२२) उतार—इसका उतार कपूर है ।

(२३) सम्बन्ध—रंजकपित्त दोष से या श्वेतकफ दोष से यह दोष उत्पन्न होता है ।

(२४) घातक चिन्ह—घातकचिन्ह पूरकत है ।

(२५) पथ्यकर आहार और आचार—इस दोष के बढ़ने के जो कारण बतलाए गए हैं, उससे दूर रहना ।

तिक्तपित्त

तिक्तपित्त दोष के विशिष्ट लक्षण याने तिक्तसैन्धव से उत्पन्न होने-वाले और उसीसे दुरुस्त होनेवाले विशिष्ट लक्षण (चिन्ह)

प्रस्तावना—इस दोष का हमें बहुत कम अनुभव है । इसके सम्बन्ध में अधिकांश कथन हमने ग्रंथके आधार पर ही किया है । जहां हवा बहुत गीली है, वहां या बरसातके दिनों में यह दोष दृष्टिगत होता है । शुष्क हवा में और शुष्क हवा के मौसम में हमें यह दोष बिलकुल नहीं दिखाई दिया । संक्षेप में हम कह सकते हैं कि तिक्तसैन्धव औषधि बहुत कम अवसरों पर कहीं कहीं प्रयुक्त की जाती है । जीभ और स्वाद से सम्बन्धित चिन्हों के प्रकट होने पर ही यह औषधि दी जाती है ।

(१) मुख्यचिन्ह—शरीर-पट में जल-संचय, इस दोषका प्रमुख लक्षण है । इस कारण मुलायम सूजन, और हरा-पीला-नारंगी या काला रंग आदि चिन्ह प्रकट होते हैं । तिक्त सैन्धव पदार्थ शरीर के केवल द्रवभाग में ही पाया जाता है, जीवाणुओं में नहीं । इसलिए इस दोष से इंद्रिय घटकों में कोई बिगाड़ उत्पन्न होता नहीं, केवल द्रवभाग बिगड़ते हैं और उससे उपर्युक्त चिन्ह प्रकट होते हैं । इस दोष से केवल द्रव भागों में ही खराबी पैदा होती है, इस लिए इस दोष के रोग बहुत ही कम पाए जाते हैं ।

(२) स्त्राव—स्त्राव पीला या हरा होता है, खट्टा या कड़वा होता है, उसमें चिकटापन नहीं होता । ग्रंथों में लिखा हुआ है कि स्त्राव, खट्टा, गाढ़ा, चिकटा, तारदार, श्लेष्मा या पीप जैसा भी होता है । वह कभी कभी इतना तीखा होता है कि जहां यह लगता है, वहां दर्द होता है और स्पर्शासहिष्णुता होती है ।

(३) ज्वर—विषम ज्वर, संतत विषम या पूरी तरह उतरनेवाला बागी का बुखार ।

(५) जीभ—जीभ पर हरी या हरी-जैसी, नारंगी, पोली, कामे के रंग की-सी याने लाल-सी सफेद, हरी-सी सफेद तह (Grayish Green)

(६) रुचि—कड़वी, कभी कभी खट्टी. तीखी या घिनौनी रुचि ।

(७) चेहरा—फूला हुआ चेहरा याने गाल फूले हुए, पीला या फीका चेहरा ।

(८) चयापचय—यह दोष गीली हवासे, पानी पीने से, पानी में काम करने से ज्यादा बढ़ता है । मानसिक श्रम, दूध, धी, तेल, शक्कर पिष्टल अन्न, दही, छाछ, मक्खन, अण्डा, मछली, सिंघाड़े, और मूंगफली से यह दोष बढ़ता है । नियमित काल से बढ़ना भी इस दोष का धर्म है । यह दोष शुष्क वायु से और पानी न पीने से कम होता है ।

(९) पचनेन्द्रिय और पचनविकार—भूख न लगना, यकृत में दर्द, यकृत में सुई चूमने को-सा वेदना, खाते समय पसीना आना, हवा से पेट फूलना, पेटदर्द, पेट में गुड़गुड़ आवाज ।

(१०) मल-मल-बढ़ता, गुद द्वार खुजलाना, कड़ा पाखाना, इसमें कभी कभी खून भी लगा रहता है, पतले दस्त, दस्त की बमारी, पाखाना हरा या हरा-सा पीला और उसमें चिकनाइट न होना, बकरी की लेंड़ी-जैसा पाखाना, कभी कभी बदबूदार पाखाना ।

(११) मूत्र—मूत्र में ईंट के चूर्ण-सा गाद (Sediment) मूत्र में पित्त, रंग पीला-सा हरा, मूत्र में मूत्राग्न, पेशाब ज्यादा या कम होना ।

(१२) निद्रा—सुस्ती, सुबह बहुत सोना ।

(१५) त्वचा—त्वचा पर बड़ी फुन्सियां, उनमें से पतला, पीला लाल, त्वचासे छिलके उतरना, त्वचा पर पीलापन. मंद खुजली (?) कपड़े उतारते समय बदन खुजलाना ।

- (१५) मानसिक चिन्ह—बड़बड़
- (१६) शारीरिक चिन्ह—जाड़ा लगना, शरीर सूजा हुआ-सा दिखाई देना ।
- (१७) हाथ-पैर—तलुओं में आग ।
- (१८) शरीर-संधियां—संधियों के हिलने के समय कड़कड़ आवाज ।
- (१९) आँख—आँखों में अगन ।
- (२०) मांसपेशियां—गला हुआ-सा लगना ।
- (२१) उतार इस औषधि पर कर्पूर उतार है ।
- (२२) सम्बन्ध—इस दोष का अन्य दोषों से सम्बन्ध नहीं है । लेकिन यह दोष जल दोष, पूयपित्त और मधुर कफ के साथ हो सकता है ।
- (२४) घातक चिन्ह—बहुत तीव्र ज्वर ।
- (२५) पथ्यकर आहार और आचार—पानी नहीं पीना, शुष्क हवा में रहना, मकान के दूसरे मंजले पर रहना । चावल, गेहूँ, मूँग की दाल, बान की लाई, पथ्यकर है ।

पीत-पित्त

पीत-पित्त दोष के विशिष्ट लक्षण याने ईध्मभूगांधिक से पैदा होने वाले और उसीसे दुरुस्त होनेवाले विशिष्ट लक्षण (चिन्ह)

प्रस्तावना—मुझे याद है, जब मैं बचपन में जुकाम होने पर उष्ण पेय पिया करता था, तो मुझमें यह दोष पैदा होता था । लेकिन जब से मैं यह बारह क्षार चिकित्सा करने लगा, तब से किसी भी बीमार में मुझे यह दोष नहीं दिखाई दिया । सम्भव है, यह दोष क्वचित्, ही उत्पन्न होता हो, स्वतंत्र रूप से तो कभी नहीं । यह भी संभव है कि श्वेतकफ अर्थात् इध्मभूलवण के चिन्हों से यह दोष उत्पन्न होता हो । जोम के चिन्ह तथा चयापचय के चिन्ह जब तक नहीं दिखाई देते तब तक यह औषधि नहीं देना चाहिए ।

(१) मुख्य चिन्ह—इस दोष का प्रमुख चिन्ह है पीला श्लेष्म रूपी स्त्राव और दमरा महत्व का चिन्ह है शरीर से बहुत से छिलके उतरना । यह चिन्ह होठों की श्लेष्मल त्वचा पर विशेष रूप से दृष्टि-गोचर होता है ।

(२) स्त्राव—स्त्राव पीला परंतु कभी कभी हरा भी । वह गाढ़ा और कभी कभी पतला भी होता है । यह भी कहा जाता है कि वह बिलकुल पानी जैसा होता है, लेकिन इसका मुझे अभी तक अनुभव नहीं है ।

(३) ज्वर—शाम को बढ़नेवाला बुखार, ऐसा बारी का बुखार जिसमें होठों पर खिपली पड़ती है, झड़ती है और जीभ पर पीली तह होती है ।

(४) धमनी—धमनी चौड़ी या बारीक, मुलायम, तेज, और कभी कभी दुर्विज्ञेय । सारे शरीर में धमनी के उड़ने की संवेदना ।

(५) जीभ, मुंह और होठ—जीभ पर पीली तह, इसके साथ कभी कभी जीभ के किनारे सफेद होते हैं ।

होठों के भीतर की श्लेष्मल त्वचा से छिलके उतरना ।

(६) रुचिः—मोठी-सी रुचि, कभी कभी तिक्त या फीकी; स्वाद्य की रुचि न समझना ।

(७) चेहरा—लाल चेहरा ।

(८) चयापचय—यह दोष उष्णता से, शाम को या कुंद हवा में बढ़ता है, ठंड से या खुली हवा में कम होता है । घी, तेल, चरबी के सेवन से यह दोष बढ़ता है ।

(९) पचनेन्द्रिय और पचनविकार—भूख न लगना, हिचकी, पेट-दर्द । पेट फूलना ।

(१०) मल—मलबद्धता या अतिसार, इसके साथ जीभ पर पीली तह, हैजे की बीमारी में काला, पतला, बद्बुद्दार पानी सा पाखाना, चावल के धोवन-सा पाखाना, दुर्गन्धयुक्त पाखाना ।

(११) मूत्र—पेशाब में खून, यह खून काला या लाल भी हो सकता है(?) पेशाब में श्वेतकल्क ।

(१३) त्वचा — त्वचा पर से छिलके-से उतरना, ऐसी कुन्तियां जिनमें से इस दोष के अनुरूप स्त्राव हीता हो, त्वचा पर लाल दाग, खौंसी, माता में यह औषधि नीरोगी त्वचा निर्माण करने के लिए दी जाती है ।

(१८) सन्धियां— सन्धिदाह में जीभ पर पीली तह दिखाई देने पर यह औषधि दी जाय ।

(१९) आंखें— आंख से या आंख के ब्रण से पोला या हरा स्त्राव, मुलायम मोतिया बिंद (फूली)

(२०) मांस पेशियां थकान मालूम देना ।

(२२) उतार— कर्पूर इस औषधि पर उतार है ।

(२३) सम्बन्ध— यह दोष श्वेत कफ से होता है ।

(२४) घातक चिन्ह—बहुत तीव्रज्वर इस दोष का मारक चिन्ह है ।

(२५) पथ्यकर आहार और आचार—ऊधन मामूली ठंड पानी पीना । खुलो हवा और घी तेल चरबी वर्ज्य ।

(६) आम्लपित्त

आम्लपित्त दोष के विशिष्ट लक्षण याने लवणभूज्वालिक से उत्पन्न होनेवाले और उसीसे दुरुस्त होनेवाले विशिष्ट लक्षण (चिन्ह) प्रस्तावना—आज चिकित्सा करते हुए चालीस साल बीत गए लेकिन इस दोष से पीड़ित मनुष्य हमें एक भी नहीं दिखाई दिया । हमारे चिकित्सा-व्यवसाय के प्रारम्भकाल में हम जलदोष को ही आम्लपित्त दोष समझ कर लवण भूज्वालिक का प्रयोग करते थे, तो उससे तात्कालिक फायदा मालूम पड़ता था लेकिन हमेशा के लिए दुरुस्त नहीं होता था । बाद में इसी रोग के अर्थात् परिणामशून्य के रोगी लवण से पूर्णतः अच्छे होते हुए दिखाई दिए । इस लिए जबतक जीभ पर सोने के रंग की तह दिखाई नहीं देती तबतक निश्चित रूप से नहीं मान लेना चाहिए कि यही दोष है । यद्यपि इस दोष के सिद्धि-चिन्ह, नीरोगी मनुष्य में

दिखाई देते हैं, तथापि स्वाभाविक रूप में यह रोग बीमार मनुष्य में पैदा होता ही है, ऐसा मानना कोई जरूरी नहीं है ।

(१) मुख्य-चिन्ह-इस दोष का प्रमुख चिन्ह है खट्टापन । लेकिन यह चिन्ह जलदोष, रंजकपित्त और तिक्तपित्त में भी दिखाई देता है । इसलिए एक अकेले चिन्ह के आधार पर यह दोष निश्चित नहीं किया जा सकता ।

(२) स्त्राव—स्त्राव में खट्टी बास या खट्टी रुचि, स्त्राव का रंग स्वर्ण के समान, पाखाने के साथ होनेवाले स्त्राव में कभी कभी हरा रंग, स्त्राव का रंग कभी कभी शहद जैसा, स्त्राव कभी कभी इतना तीक्ष्ण कि जहाँ लगता है, वहाँ की चमड़ी ही खा बैठता है और दर्द पैदा करता है ।

(३) ज्वर—ज्वर का बुखार जिस में कै के साथ खट्टे थक्के गिरते हों, ऐसा बुखार जिस में खट्टी दुर्गन्ध का पसीना आता हो ।

(४) धमनी—धमनी के उड़ने की संवेदना ।

(५) जीभ—जीभ पर मलाई जैसी स्वर्णिम तह ।

(६) रुचि—खट्टी रुचि, ताम्बे की-सी रुचि ।

(७) चेहरा—लाल चेहरा, चमकदार चेहरा, नीला चेहरा, भरा हुआ, फूला हुआ चेहरा, फीका चेहरा ।

(८) चयापचय—घी, तेल, चरबी, शक्कर और खट्टा तथा पिष्टल पदार्थ खाने से यह दोष बढ़ता है । लंघन से कम होता है ।

(९) पचनेन्द्रिय और पचनविकार—भूख न लगना, गले में खट्टापन, आम्लाशय में आम्ल उत्पन्न होना, और उससे भोजन के बाद कुछ समय बीतने पर दर्द शुरू होना । आपाशय में व्रण, इस से अमाशय में एक ही स्थान पर दर्द और आग होती है, आम्लद्रव की उलटी, पिसी हुई ' कॉफी ' जैसी काले रंग की उलटी, खट्टे सफेद थक्कों की उलटी, पेट दर्द ।

(१०) मल—मलबद्धता और पतला दस्त भदल-बदल कर होता है, मलबद्धता, पतले दस्त (सफेद या हरे) गुदद्वार में खुजलाहट ।

(११) मूत्र बहुत ज्यादा पेशाब ।

(१२) त्वचा—त्वचा पर लाल दाग, लाल फुन्सियां जिनमें खुजली हो और उनमें से स्वर्ण के या शहद के रंग का स्राव होता हो । त्वचा पर से छिलके उतरना । खुजलाना । खट्टी या तीखी बास का पसीना ।

(१७) हाथ-पैर-हाथ पैर ठन्ड़े मालूम पड़ना ।

(१८) संधियां—संधियों में दाह, और दर्द, हिलते समय संधियों में कड़कड़ आवाज ।

(१९) आंखें—आंखों में आग, आंखों के आस पास नील बलुआ आंखें आना और उनमें मलाई जैसा स्वर्णिम स्राव । पलकें चिपकना ।

(२०) गंठ पेशियां-यक -मा लगना ।

(२१) दांत -- दांत किटाकिटाना (बच्चों में नींद के समय)

(२२) उतार-लवण इस औषधि पर उतार है ।

(२३) सम्बन्ध—इस दोष का अन्यदोषों से सम्बन्ध नहीं है । लेकिन अन्य दोषों के साथ यह भी प्रकट हो सकता है ।

(२४) घातक चिन्ह—बहुत तीव्रज्वर इस दोष का घातक चिन्ह हो सकता है ।

(२५) पथ्यकर आहार और आचार—लंबन । घी, तेल, चरबी, शक्कर, पिष्टल पदार्थ वर्ज्य । दूध पीना हितकर है ।

(७) श्वेतकफ

श्वेतकफ दोष के विशिष्ट लक्षण याने इध्मभूलवण से उत्पन्न होने वाले और उसीसे दुरुस्त होनेवाले विशिष्ट लक्षण (चिन्ह)

प्रस्तावना—यह दोष बहुत अधिक मात्रा में बार बार दिखाई देता है । इस दोष के चिन्हों का अध्ययन-मनन मधुर कफ अर्थात् अस्थिसुधा

के चिन्हों के साथ समान विषयक चिन्हों की पारस्परिक तुलना करते हुए करना चाहिए । क्योंकि रोग की दूसरी अवस्था में इस दोष के या मधुर कफ के चिन्ह उत्पन्न होते हैं । इस दोष के चिन्ह निम्न-प्रकार हैं—

(१) मुख्यचिन्ह—सूजन और सफेद कफ का साव-येही इस दोष के प्रमुख लक्षण हैं । सूजन के साथ दर्द जो रूग्ण भाग को दबाने या छूने से होता है । परन्तु लवण, लौहज्वालिक या सिकता के चिन्हों में जैसे अपने आप रूग्णभाग में दर्द होता है वैसा दर्द इस दोष में नहीं है । इस दोष से पीडित शरीर का भाग सफेद या काला होता है, खून काला पड़ जाता है । इस दोष में खुजली नहीं होती ।

(२) साव—इस दोष का साव गाढ़ा, चिकटा, थक्के के रूप में श्लेष्मा जैसा होता है । वह पानी पर तैरता है, वह दूध-जैसा सफेद, काला-सा सफेद या पीला-सा सफेद होता है । इस साव की कभी कभी सफेद पपड़ी भी पड़ जाता है । उसे झूठी पपड़ी कहते हैं ।

(३) ज्वर—इस दोष के साथ कभी कभी सौम्य ज्वरभी रहता है । ऐसा चारों का बुखार जिसमें जीभपर सफेद तह डाली है और ग्लैंड या यकृत बढ़ जाता है ।

(४) धमनी—धमनी मद या तेज और मुलायम होती है, कभी कभी वह बारीक भी होती है, कभी कभी बीच बीच में रुक भी जाती है ।

(५) जीभ, मुँह, होंठ—जीभ पर दूध-जैसी सफेद तह, काली-सी सफेद या पीली-सी सफेद तह । जीभ नक्शे के समान कहीं साफ कहीं सफेद तह-युक्त । होंठों के अन्दर की त्वचा कड़ी हो जाती है और उस-पर से छिलके उतरते हैं ।

(६) रुचि—इस दोष में रुचि विकृत नहीं होती लेकिन कभी कभी कड़वी होती है ।

(७) चेहरा—फीका, सफेद, काला-सा चेहरा, चेहरा भराहुआ, गाल फुले हुए-से ।

(८) चयापचय—लंघन से यह दोष कम होता है और अन्न से विशेषतः पौष्टिक अन्न से याने दूध, घो, शक्कर, तेल आदि से बढ़ता है । आम खाने से आंव-खून के दस्त लगते हैं । मेघाच्छदित हवा से भी यह दोष पैदा होता है और बढ़ता है जैसे बरसात के आरम्भ में उत्पन्न होनेवाले आंव-खून के दस्त ।

(९) पचनेन्द्रिय और पचनविकार—भूख न लगना, यकृत बढ़ना, पथरी बढ़ना, सफेद श्लेष्मा की उलटी, काले यककों से युक्त काले खून की उलटी ।

(१०) मल—मलबद्धता, अतिसार, मल सफेद या मटमैला, आमा-तिसार, इसमें आंव या आंव-खून से युक्त थोड़ा थोड़ा पाखाना कईबार होता है और अंतर्द्वियों में चीरने के समान वेदना होती है और कांखने को जी चाहता है, गुदद्वार में खुजलाइट ।

(११) मूत्र—गंदला पेशाब, पेशाब में खून होने के कारण वह काला या काला-सा दिखाई देता है, बहुत कम पेशाब, पेशाब में श्वेत कल्क ।

(१२) त्वचा—ऐसी फुन्सियां जिनमें से इस दोष के अनुरूप ज्ञात बहता हो और खुजली न हो । त्वचा पर से छिलके उतरना, खौसी, श्वेतकुष्ठ (?)

(१४) रक्तस्राव—बहताहुआ खून गाढ़ा, काला या काले यककों के रूप में ।

(१८) शारीरिक लक्षण—जाड़ा लगना, शरीर के पिण्ड बढ़ना, रक्त के सफेद कण बढ़ना और उससे शरीर सफेद दिखाई देना, घाव में हराम गोشت, झूठो सफेद पपड़ो ।

(१९) आंखें-पीला, पीला-सा, हरा-सा या सफेद स्राव । मुलायम मोति यात्रिद ।

(२०) नास पेशियाँ—फिरंग रोग के समय मस्तिष्क में ग्रंथियां पड़ जाने के कारण होनेवाला लकवा ।

(२२) उतार—कर्पूर इस औषधिपर उतार है ।

(२३) सम्बन्ध—जल दोष से या रंजक पित्त से यह दोष उत्पन्न होता है अर्थात् प्रतिश्याय, या दाह की दूसरी अवस्था में यह दोष उत्पन्न होता है । इस दोष से पीत पित्त दोष या पूयपित्त दोष उत्पन्न होता है । यह दोष मधुर कफ के साथ हो सकता है । क्योंकि दोनों दोष जल दोष से उत्पन्न होते हैं । यह दोष कठिन कफ के साथ भी हो सकता है । क्योंकि दोनों दोष रंजक पित्त से उत्पन्न होते हैं ।

(२४) घातक चिन्ह—फेफड़ों में गाढ़ा श्लेष्म इकट्ठा होना, इस दोषका अत्यन्त घातक चिन्ह है और यह फुफ्फुसदाह या फुफ्फुसप्रतिश्याय दोनों रोगों में बारबार दिखाई देता है ।

(२५) पथ्यकर आहार और आचार—लंघन, पानी पीना, और व्यायाम बहुत ही हितकर हैं । बीमार को दूध, घी, शक्कर, तेल, चरबी नहीं खानी चाहिए । सौम्य लंघन की ही यदि आवश्यकता हो, तो बीमार को चावल, गेहूँ, मूंगकी दाल, धान की लाई दे सकते हैं । उसे ज्यादा ठंडा पानी नहीं पीना चाहिए, पानी “न ठंडा और न गरम” पेचिश या आमतिशार में गेहूँ या सब्जी खाने को नहीं देनी चाहिए ।

(८) मधुर-कफ

इस दोष के विशिष्ट-लक्षण याने अस्थि-मुष्ठा ये उत्पन्न होने वाले और उसी से अच्छे होनेवाले विशिष्ट लक्षण (चिन्ह)।

प्रस्तावना—यह दोष बार बार दिखाई देता है। इस दोष के चिन्हों का अध्ययन-मननश्वेत कफ के अर्थात् इधमभूलवण के चिन्हों के साथ समान विषयक चिन्हों की पारस्परिक तुलना करने हुए करना चाहिए। क्योंकि रोग की दमरी अवस्था में इस दोष के या श्वेत कफ के चिन्ह उत्पन्न होते होते हैं। इस दोष के चिन्ह निम्न प्रकार हैं -

(१) मुख्य चिन्ह—पानी के रंग का लेकिन गाढ़ा स्याव इस दोष का मुख्य लक्षण है। खुजली इस दोष का दूसरा महत्वपूर्ण लक्षण है। उक्त लक्षण की सहायता से ही “यह मधुर कफ है, श्वेत कफ नहीं” ऐसा जान सकते हैं। इस दोष के सभी चिन्हों को जड़ में अन्न का ठीक तरह पाचन न होना और पोषण व्यवस्थित न होना— विशेषतः हड्डियों और दांतों का बराबर पोषण न होना है।

स्याव—स्याव बहुधा पानी के रंग का और गाढ़ा, परंतु वह कभी कभी सफेद या हरा रंग का भी होता है। स्याव बहुत बद्बुदार होता है। खासते समय पानी के रंग का गाढ़ा श्लेष्मय मुंह से निकलता है। यह श्लेष्मा कभी कभी पीला भी होता है और इसका संभवनीय कारण है सिकता के चिन्ह उत्पन्न होना।

(३) ज्वर—बारीक ज्वर, आदत के तौर मालूम न देनेवाला रोज बुखार, छोटे बच्चों का पूरी तरह उतरने वाला बारी का बुखार।

(४) घमनी—इस दोष के चिन्ह घमनी में नहीं दिखाई देते फिर भी बुखार और कम जोरी के मान से घमनी तेज और बारीक रह सकती है।

(५) जीभ—जीभ बहुधा साफ रहती है लेकिन कभी कभी उसपर सफेद तह भी दिखाई देती है।

(६) रुचि—मुंह में मीठी रुचि, कभी कभी कड़वी और कभी कभी विष्टावत् घिनौनी ।

(७) चेहरा—फीका, मटमैला, पीला-सा, हरा-सा या सफेद-सा चेहरा, घी चुपड़े-जैसा चेहरा ।

(८) क्यापचय—यह दोष ठंड-से बढ़ता है, उष्णता से कम होता है और पाणी पीने से बढ़ता है । ओजस्वी अन्न विशेषतः जिसके ऊपर का छिलका निकाल लिया हो ऐसी दाल, और गेहूं, मीठे फल विशेषतः तर, मानसिक श्रम, मैथुन, प्याज, दूध, केले, मूंगफली तथा लाल कुमड़े से यह दोष बढ़ता है । शारीरिक द्रव के नाश के कारण भी यह दोष बढ़ता है ।

(९) पचनेन्द्रिय और पचन विकार—भूख न लगना, बहुत जोर की भूख लगना नमकीन खाने की इच्छा होना कोयला, मिट्टी आदि अपचनीय पदार्थ खानेकी इच्छा होना, पानी न पीकर केवल अन्न-सेवन से कम होने वाले पचन-विकार, अन्न या दूध की उलटी होना दांत निकलते समय की उलटियां, पेट नौकाकार होना याने अन्दर दबा हुआ दिखाई देना और मुलायम मालूम पडना, सूखी ओकाई, उचकियां, वायू से पेट फूलना, दुर्गन्धित वायु सरना, पेट दुखना ।

(१०) मल—मलबद्धता या अतिसार, पाखाना सफेद या हरा, चिकटा और बदबूदार, सफेद पाखाना कुछ देर बाद हरा दिखाई देना, फोंक (धनुष-पंख, भूसी) के आकार की-सी झूठी खाल (झिल्ली) पाखाने के साथ निकलना (?) कडा पाखाना जिसमें खून लगा हो, गरम-पतला-बदबूदार और फट्-फट् आवाज के साथ होनेवाला पाखाना, आमातिसार में हरा श्लेष्मा या पानी के रंग का, गाढा दुर्गन्धयुक्त स्राव, गुदद्वार पर दरारें, गुदद्वार में खुजलाहट, बदबूदार पाखाना ।

(११) मूत्र—मूत्र में अस्थि-सुघा, ऐसे मूत्र के पृष्ठ भाग पर मलाइ जैसी तह या मूत्र के तल में गाढा लेकिन ऊपर विरल दिखाई देनेवाला

सफेद गाद, मूत्र के अत्यधिक आग्ल होने पर उस में अस्थि-सुधा होकर भी दिखाई नहीं देती। लेकिन आग्लता औषधि से या अन्य किसी कारण से कम होने पर मूत्र में अस्थि-सुधा दिखाई देती है। मूत्र में श्वेत कल्क, मूत्र में सफेद रेत। शस्त्र क्रिया से मूत्राशय की अस्थिसुधा का कंकड़ निकालने पर, वह फिर से पैदा न हो इस लिए यह औषधि देनी चाहिए। मूत्राशय का मूत्राग्ल और अस्थिसुधा के मिश्रण से बना हुआ कंकड़ या Calcium oxlate का कंकड़ फिरसे पैदा न हो, इसलिए यह औषधि और लवण भी देना चाहिए। बहुत पेशाब होना।

(१२) निद्रा—बहुत नींद आना, प्रायः सुबह के समय।

(१३) त्वचा—त्वचापर खुजानेवाली फुन्सियां, इनमें से पानी के-से रंग का चिकटा, गाढ़ा स्राव या काला-सा या काला चिकटा खून निकलता है। त्वचा पर के छिलके उतरना, फुन्सियां पीली या पीली दिखाई देना तथापि स्राव पानी के रंग का-सा होना। त्वचा पर चींटी चलने की-सी संवेदना, टंडापन, स्पर्श ज्ञान का अभाव, बहुत जोर की खुजली, ज्यादा खुजाने पर मुंह में मोठी रुचि, उभार छोटी बड़ी फुन्सियां आदि न होने पर भी त्वचा में खुजली होना, Psoriasis याने चमड़ी मोटी होकर उस पर मोटी खुर-दुरी न निकलनेवाली और क्वचित् खुजलानेवाली खिपली, इस पर कभी कभी सिकता भी देना पड़ता है और यदि उस खिपली में दरारें हों, तो लवण भी दिया जाता है।

(१४) रक्तस्राव—बहता हुआ खून गाढ़ा, काला और काले थक्के से युक्त, कभी कभी बदबूदार भी, कभी कभी मासिक धर्म लाल भड़क भी होता है।

(१५) मानसिक चिन्ह—स्मरण शक्ति का नाश, बुद्धि का मंदगति से विकास, निर्बुद्धता अर्थात् जड़ता, मानसिक श्रम ज्यादा देर तक लगातार करना कठिन।

(१६) शारीरिक चिन्ह—शारीरिक पिण्डों का बढ़ना, हड्डियां टेढ़ी होना, हड्डियों की वृद्धि न होना जैसे तालू न भरना, कमजोर हड्डियां पतली और मुलायम जैसे जल शीर्षक रोग में सिर की हड्डियां मुलायम और पतली हो जाती हैं और दबाने से कड़कड़ आवाज करती हैं, लम्बी हड्डियों के छोर बढ़कर बड़े हो जाते हैं। ऐसे टंडे फोड़े जिन पर लाली या उष्णता नहीं होती और ये जल्दी पकते भी नहीं, जाड़ा बहुत लगना, नाक का अर्श (मसा या मासकील), नासिका के पिछले हिस्से में बड़े हुए पिंड, अन्न का रक्त न बनना, नाक की नाक बाह्यकर्ण और सिर का पिछला हिस्सा टंडा होना, अन्तर्गल।

(१७) हाथ-पैर—हाथ-पैर टंडे, हाथ-पैर के छोरों पर चोटियां चलने की संवेदना, टंडापन और स्पर्शज्ञान का अभाव।

(१८) संधियां और हड्डियां—हड्डियां कमजोर, पतली, मुलायम, या कांच-जैसी नाजुक अतः उनमें टेढ़ापन, हड्डियों के छोर बढ़ना, हड्डियों की सिलाई में और जोड़ों में दर्द (ऐसी सिलाई सिर की कबटी में और ऐसे जोड़ कमर के नीचे की त्रिकोणास्थि से लगकर हैं) हड्डियां सड़ना, या उनमें पीप पड़ना (विशेषतः राजयक्ष्मा रोग में ऐसा ही होता है)

(१९) आंखें—आंखों के चारों ओर नील वर्तुल, आंखों को प्रकाश सहन न होना, मुलायम मोतियाबिंद, पलकें चिपकना, आंखों के सामने काले दाग दिखाई देना।

(२०) मांसपेशियां—थका-सा लगना, कम्प या स्तंभ, हाथ पैर में थरथराहट।

(२१) दांत—दांत देर में निकलना, छोटे आकार के दांत, दांत घिस जाना, दांतों में पोलापन, बच्चों के दात ढीले होना, दांतों में दर्द, टंड या स्पर्श दांतों को सहन न होना, दांतों में कालापन (!)

(२२) उतार—कर्पूर इस औषधि पर उतार है।

(२३) सम्बन्ध—यह दोष जलदोष के बाद (लवण के बाद)

उत्पन्न होता है। और इस दोष के बाद सौम्यकफ (सिकता) या उत्तेजक वायु दोष (मग्नज्वालिक) उत्पन्न होता है।

(२४) घातक चिन्ह—अन्न का खून न बनना-यह इस दोष का घातक चिन्ह है।

(२५) पथ्यकर आहार और आचरण—इस दोष से मुक्त होने का मुख्य उपाय पानी बिलकुल न पीना या यथासम्भव कम पीना। अन्न में भी पानी यथासम्भव कम हो, ठण्ड से शरीर की रक्षा करनी चाहिए और मानसिक श्रम जहां तक बन सके नहीं करना चाहिए। चावल, गेहूँ, घी, शक्कर से फायदा होता है और मूंग की दाल थोड़ी खाते हैं, तो कोई नुकसान नहीं है। रोग यदि मामूली है, तो गाय का दूध भी ले सकते हैं परंतु किसी खाद्य पदार्थ के साथ मिला कर उसे लेना चाहिए। इस दोष को बढ़ानेवाली अन्य चीजों से भी दूर रहना चाहिए।

(९) सौम्यकफ

सौम्यकफ दोष के लक्षण याने सिकता से उत्पन्न होनेवाले और सिकता से ही दुरुस्त होनेवाले लक्षण (चिन्ह)

प्रस्तावना—यह दोष अपेक्षा से अधिक और बारबार दिखाई देता है। पूयपित्त (कुलनार) रंजकपित्त (लौहज्वालिक) और जलदोष (लवण) के चिन्हों के साथ इस दोष के चिन्हों का तुलनात्मक अध्ययन करते रहना चाहिए। चिरकारी रोगों का प्रारम्भ इस दोष से भी होता है लेकिन जलदोष से अधिक बार होता है, इसलिये जलदोष के साथ इस दोष की तुलना करते हुए अध्ययन-मनन करना आवश्यक है। यह दोष यदि पीप में परिणत नहीं होता है, तो उसे पहिचानना बहुत कठिन है। अतः इस की पहिचान के लिए 'चिकित्सा से औषधि निर्णय करने' की पद्धति का ही अवलम्बन करना आवश्यक हो जाता है।

(१) मुख्य लक्षण—चिरकारी मंदस्वरूप का दाह, यही इसका मुख्य लक्षण है। इस दाह की परिणति पीप में या काठिन्य में होती है।

इस दाह में लाली और उष्णता कम रहती है और उसके साथ थोड़ा बहुत बुखार भी, दर्द और सूजन भी होती है, आग या खुजली भी होती है। इस दोष में नीलापन भी पैदा होता है। इंद्रियों को अपने अपने विषयों का स्पर्श बहुत जोरदार मालूम पड़ना (अति विज्ञान) या “मालूम न पड़ना” यह चिन्ह भी इस दोष में पैदा होता है। अति विज्ञान के कारण दुख होता है अर्थात् इंद्रियों को विषय का स्पर्श सहन नहीं होता। पीप के साथ सूजन भी होती है।

(२) स्त्राव--स्त्राव प्रायः पीले दुर्गन्धयुक्त पीप का होता है। वह कभी कभी हरा नारंगी या सफेद (दूध जैसा) भी होता है। स्त्राव कभी कभी पानो के रंग का, बदबूदार और जहां लगता है, वहां की चमड़ा ही खा बैठता है। खांसो के समय कभी कभी छोटे छोटे पीले थक्के भी निकलते हैं।

(३) ज्वर--शरीर में कहीं पर भी पीप पड़ने से आनेवाला आदत के जैसा बुखार याने रोगी को मालूम न पड़ने वाला। बारीक बुखार।

(४) धमनी--धमनी चौड़ी या बारीक, मुलायम या कठिन, तेज या मंद, कभी कभी अनियमित, कभी कभी दुर्विज्ञेय भी।

(५) रुचि--खट्टी या कड़वी रुचि।

(६) चेहरा--फीका, मटभैला या पीला चेहरा, नाक ठण्डी, नाक की नोक लाल, उसमें खुजली (विशेषतः गाड़ी में बैठकर जाते हुए)।

(७) चयापचय--यह दोष ठण्ड से बढ़ता है और गरमी से कम होता है। यह दोष नियमित समय से घटता-बढ़ता है। यह नियमित समय कभी कभी चन्द्रमास का होता है याने यह दोष अमावस या पूर्णिमा से बढ़ता है। यह दोष मानसिक श्रम से बढ़ता है। और शारीरिक श्रम से घटता है। यह दोष उपवास से घटता है और अन्न से बढ़ता है। जो पानी ठण्डा न हो, उसके पीने से यह दोष घटता है। शारीरिक द्रवों का नाश, पसीना दबाना, मांस, तन्बाखू और मद्य से भी यह दोष बढ़ता है।

(८) पचनेन्द्रिय और पचन विकार--भूख मालूम न देना या जोर की भूख लगना, अन्न की या पेय (पदार्थ) की उलटी, खट्टी डकार, गले के नीचे जलन और उसके साथ जाड़ा लगना, अन्न का रक्त न बनना, उचकी, पेट फूला हुआ, बदबूदार वायु सरना, पेट दुखना, पेट में "गुरगुर" आवाज ।

(९) मल—मलवृद्धता, पाखाना थोड़ा-सा होनेपर शेष पुनः अंदर चला जाता है, बालक के शव-जैसा दुर्गन्धित अतिसार पाखाना पीला, पतला और पानी में पकाए हुए बेसन जैसा, बदबूदार पाखाना ।

(१०) मूत्र—पेशाब में पीप और श्लेष्मा, पेशाब में दुर्गन्ध, पेशाब में श्वेतकल्क, पेशाब में ईंट का-सा चूर्ण नाचे जमना, पेशाब में मूत्राम्ल, पेशाब में रेत जैसा मैल जमना, गन्दला पेशाब, पेशाब में लाल रेत जमना, कम पेशाब ।

(११) निद्रा—बहुत नींद आना या थोड़ी नींद आना, नींद न आना, नींद में घूमना-फिरना इत्यादि निद्रित-चेष्टन ।

(१२) त्वचा—त्वचा खुजलाना, फुन्सियां जिनमें गाढ़ी, पीली पीप बहती हों, Psoriasis अर्थात् त्वचा मोटी होकर उसपर मोटी खुरदुरी, न निकलनेवाली और क्वचित् खुजलाने वाली पपड़ी, यह रोग अस्थि-सुधा या सिकता से अच्छा हो जाता है परन्तु यदि उसपर दरारें हों, तो लवण भी देना पड़ता है, महा कुष्ठ, त्वचा को स्पर्श सहन न होना; सारे बदन में उभार और उसमें खुजलाहट, त्वचा से छिलकें उतरना, चीटीं चलने की-सी संवेदना, उसांके साथ त्वचा ठंडी और स्पर्शज्ञान-शून्यता, त्वचा लाल, नीली या पीली, पसीने में खट्टी बास या दुर्गन्ध ।

(१४) मानसिक चिन्ह-विचार-शक्ति तथा मस्तिष्क की अन्य शक्तियों की क्षीणता, पागलपन, अतिविज्ञान, स्मरण-शक्ति की क्षीणता ।

(१५) शारीरिक चिन्ह—पिण्ड बड़े होना, पिण्ड पकना, ठंडे फोड़े याने जो लाल और गरम नहीं, और धीरे धीरे पकते हैं, किसी भी फोड़े में

पीप देरी से पडना, फोड़े में सूजन होकर भी पीप होना, अन्न का खून न बनना, जाड़ा लगना, सारा बदन या आधा बदन ठंढा मालूम देना, शरीर का वाम अंग ठंढा मालूम देना, व्रण से रक्तस्राव, व्रण में स्पर्श-सहिष्णुता, व्रण में हराम गोشت, अन्तर्गल (हरनिया, फोते की बीमारी) जाड़ा लगना, तन्तुशूल ।

(१८) हाथ पैर—हाथ-पैर ठंढे मालूम देना, पैरों पर हमेशा बदबूदार पसीना, नाखून नाजुक और टूटे हुए, नख-रोग, नखों पर सफेद-दाग तलुओं में आग ।

(१७) संधियां और हड्डियां—हड्डियों में पीप पडना, हड्डियों में दर्द हड्डियों में दाह होना, सूजना, पकना और सड़ कर कोथ (Gangrene) होना (विशेषतः राजयक्ष्मा में ऐसा ही होता है) ।

(१८) आंखें—बिलनी (गुहांजनी), पलकें चिपकना,

(१९) मांसपेशियां—थकान-सी मालूम देना, आक्षेप या स्तंभ, फिरंगोपदंश के समय मस्तिष्क में ग्रंथि पड़ कर उससे लकवा होना, हाथ-पैरों में थरथराहट ।

(२०) दाँत—दाँत हिलना, दाँत पोले होना, दाँत दुखना, दाँत और मसूड़ों के बीच में से पीप निकलना ।

(२१) उतार—कर्पूर इस औषधि पर उतार है ।

(२२) सम्बन्ध—यह दोष मधुर कफ दोष के अनन्तर उत्पन्न होता है ।

(२३) घातक चिन्ह—जोर का खुआर, पीप या आक्षेप या स्तम्भ घातक होगा ।

(२४) पथ्यकर आहार और आचार—उपवास करना, जो ठंढा न हो ऐसा पानी पीना, शारीरिक व्यायाम करना हितकर हैं । मांस, मद्य, तम्बाखू और मानसिक श्रम घातक है । इन्हें त्यागना ही होगा ।

(१०) कठिन कफ

कठिन कफ के विशिष्ट लक्षण याने चित्रादमा से उत्पन्न होनेवाले और उसीसे दुरुद्धत होनेवाले विशिष्ट लक्षण (चिन्ह)

प्रस्तावना—यह दोष स्वतंत्ररूप से क्वचित् ही उत्पन्न होता हुआ दिखाई देता है । लेकिन यह रंजकपित्त (लौहज्वालिक) के बाद बहुधा उत्पन्न होता है । तिक्तपित्त, आम्लपित्त और पीतपित्त इन दोषों की अपेक्षा यह दोष अधिक बार दिखाई देता है । यह दोष इन्द्रियों को बांधनेवाले आवरणों में, रक्त-वाहिनियों में, त्वचा आदि के रबड़ की भांति लचीले तंतुओं में, हाडों के पृष्ठ भागों में और दांतों के आवरणों में बहुधा पाया जाता है ।

(१) मुख्य लक्षण - लचीले तंतुओं का ढीलापन. यह इस दोष का मुख्य लक्षण है । इस दोष से रक्त वाहिनियां विस्तृत होती हैं, गर्भाशय स्थानभ्रष्ट होता है । वह आकुंचित हो नहीं पाता । अतः गर्भ की थैली (ओझरी या नार) के बाहर निकल आने में जो वेदनाएं होनी चाहिए, वे उत्पन्न ही नहीं होतीं । गर्भाशय से रक्तस्राव होता है, तोंद निबल आती है । मूल्याधि की या अन्य स्थानों की रक्त-वाहिनियों में ग्रंथियां, गुद-भ्रंश [गुदकांड (कांच) बाहर निकल आना] आदि चिन्ह प्रकट होते हैं । हृदय भी एक प्रकार की रक्तवाहिनी ही है । उस में भी यह विस्तार—चिन्ह उद्भूत हो सकता है । काठिन्य यह दूसरा चिन्ह है । इस काठिन्य के कारण उत्पन्न होनेवाली गांठें (ग्रंथियां) पत्थर की-सी कठोर होकर उनका पृष्ठ भाग खुरदुरा हो जाता है ; इस लिए हड्डियों पर कठिन गांठ (टीले जैसे) आदि । पपड़ियां, दरारें ये महत्त्व के चिन्ह हैं । हाड सड़ना, पकना और मरना—ये भी चिन्ह इस दोष में पाए जाते हैं ।

(२) साव—साव पानी के रंग जैसा, दुर्गन्धयुक्त और जहां यह लगाता है, वहां की त्वचा छिल जाती है, खांसने से छोटे, पीले कफ के थक्के गिरते हैं, खांसने से श्लेष्मा [पानी के रंग का (?)]

निकलता है,

(३) ज्वरः—हाड़ की वृद्धि के साथ लगा हुआ बुखार, यह बुखार एक सप्ताह या उससे ज्यादा समय तक रहता है, इसमें प्यास, निद्राभाव, बेचैनी और जीभ पर नारंगी तह होती है ।

(४) धमनी—भरी हुई (चौड़ी) धमनी संभवनीय है । लेकिन ग्रंथ में ऐसा कुछ नहीं लिखा हुआ है ।

(५) जीभ—जीभ पर दर्द-भरी या दर्द न देनेवाली दरारें, जीभ पर चिकनी मिट्टी जैसी तह, दाढ़ के बाद जीभ कठिन हो जाती है ।

(६) रुचि—सुगन्ध कड़वा मुँह ।

(७) चयापचय—नम (Moist गीली) हवा में और आराम के समय यह दोष बढ़ता है, जडान्न से विशेषतः ओजस्वी अन्न से यह दोष बढ़ता है ।

(८) पचनविकार—अपक्व अन्न की उलटी, दाँत निकलते समय उलटी, उच्चकी, पेट फूलना ।

(९०) मल—मलवृद्धता, गुदद्वार पर दरारें, अँतड़ियों के निचले सिरेपर बहुत दुखनेवाली दरार, गुदद्वार में खुजलाहट ।

(९१) मूत्र—बहुत ज्यादा पेशाब होना, बहुत कम पेशाब होना, गहरे रंग का तिक्त गंध का पेशाब, बदबूदार पेशाब ।

(९३) त्वचा—त्वचा मोटी, कठिन और दरारों से युक्त होना और उसपर से छिल के उतरना, त्वचा पर दरारें, हथेलियों और तलुओं में दरारें, त्वचा कठिन होकर उसपर पपड़ी जमना, त्वचा पर सिंग-जैसा कड़ा उभार, सिंग जैसी कठिन त्वचा (?)

(९४) रक्त स्राव—रक्त स्राव लाल भड़क रंग का होता है । यह खून लौहज्वालिक के खून की भाँति जम जाता है या नहीं, यह ग्रंथ में नहीं बतलाया गया है और न हमें इसका अनुभव ही है ।

(१६) शारीरिक चिन्ह—पत्थर जैसा कठिन पिण्ड, स्त्रियों के स्तन की कठिन गाँठ। इस कठिन गाँठ का और पिण्ड का पृष्ठभाग खुबदुग होता है, रक्तवाहिनियों का विस्तार, शुद्ध रक्त वाहिनियों का विस्तार, अशुद्ध रक्तवाहिनियों का विस्तार, जिनके किनारे कठिन होते हैं, ऐसे व्रण, अन्तर्गल।

(१८) सन्धियाँ और हड्डियाँ—हड्डियों पर हड्डी के टीलें, हड्डियाँ बड़ी होना, हाड़ों में दर्द, हाड़ों में पीप, हाड़ सड़ना और मरना (विशेषतः फिरंगोपदंश में) हड्डियों की सन्धियों में हिलते समय कड़-कड़ आवाज।

(१९) आंखें—बुढ़ापे का मौतिया बिंद, आंखों के सामने प्रकाश की चिनगारियां चमकना, पलकें चिपकना।

(२०) मांसपेशियाँ—फिरंगोपदंश में मस्तिष्क में गाँठ पड़ जाने के कारण लकवा।

(२१) दांत—दांत देर में निकलना, दांतों पर का आवरण खुरदुरा, दांत कम या नाजुक होना, दांत हिलना, दांत घिस जाना। हिलनेवाले दांतों में दर्द, अन्नके स्पर्श से दांत दुखना।

(२२) उतार—कर्पूर इस औषधि पर उतार है।

(२३) सम्बन्ध—यह दोष रंजकपित्त [लौहज्वालिक] के बाद उत्पन्न होता है और इसलिए वह श्वेतकफ के साथ बारबार प्रकट होता है।

(२४) घातकचिन्ह—अत्यधिक रक्तस्राव इसका घातक चिन्ह है।

(२५) पथ्यकर आहार और आचार—उपवास, जड़ान्न विशेषतः ओजस्वी जड़ान्न वर्ज्य है, थोथा निकला हुआ गोहूँ और चना वर्ज्य हैं, उड़द नही खाना चाहिए।

(११) घातक वात

घातकवात दोष के विशिष्ट लक्षण याने इध्मभूज्वालिक से उत्पन्न होनेवाले और उसीसे दुरुस्त होनेवाले विशिष्ट लक्षण।

प्रस्तावना—यह बहुत महत्व का दोष है। प्रायः सभी मारक रोगों में यह प्रकट होता है। सच पूछा जाय तो इस दोष के उत्पन्न हुए बिना कोई रोगी मरता ही नहीं। किसी भी दोषकी अन्तिम अवस्था में यह दोष प्रकट होता है तब वह असाध्य स्वरूप का ही होता है। परन्तु रोग के प्रारम्भ कालसे ही यदि वह प्रकट हो, तो उसी समय उसकी योग्य चिकित्सा करने से वह साध्य हो सकता है। इस दोष के चिह्न निम्न प्रकार हैं—

(१) प्रमुखचिन्ह—मस्तिष्क और उसीसे लगी हुई पीठ की रीढ़ की सुषुम्ना नाड़ी-इन दोनों में समस्त जीव-शक्ति संचित रहती है। वहां से शरीर के सभी भागों तक तार [तंतु] फैले हुए हैं और शरीर के प्रत्येक भाग से वहां तक तंतु गए हुए हैं। इन्हें क्रमशः कर्मतंतु और ज्ञानतंतु कहते हैं। कर्मतंतु मस्तिष्क की या सुषुम्ना की शक्ति को शरीर के विभिन्न भागों तक पहुँचा कर उनसे विभिन्न कर्म करवाते हैं और ज्ञानतंतु रूप-रस-स्पर्श-गंध-शब्द इन पांच विषयों का और शरीर के अन्दर होनेवाली हलचलों का ज्ञान मस्तिष्क या सुषुम्ना को पहुँचाते रहते हैं। इनके अतिरिक्त मस्तिष्क से लेकर शरीर के सब भागों तक पोषकतंतु भी फैले हुए हैं। वे शरीर के सब भागों को रक्त से अपना पोषण खींच लेने में मदद किया करते हैं। इन सभी तंतुओं का, मस्तिष्क का और सुषुम्ना का मुख्य घटक इध्मभूज्वालिक है। इसलिए इध्मभूज्वालिक के विकार के कारण तंतुओं के कार्यों में ही विकार उत्पन्न होता है—यह बात ध्यान में रखने से इस दोष के लक्षण अच्छी तरह समझ में आ जायेंगे। शरीर के किसी भी भाग का पोषण न होना—यह इस दोष का प्रमुख लक्षण है। इस लक्षण से (१) कृशता और (२) कोथ ये दो चिन्ह उत्पन्न होते हैं। कृशता से कोई भी इंद्रिय नरम पड़ जाती है, आकार में छोटी और वजन में हलकी हो जाती है। क्योंकि उक्त दोष के कारण उस इंद्रिय के जीवाणु संख्या में कम और आकार में छोटे हो जाते हैं। कृशता से शरीर कभी कभी सफेद-सा दिखाई देता है।

कोथ याने विकृत भाग की मृत्यु ही है। उसमें कालापन और प्रेतवत् दुर्गन्ध होती है। कोथ में कभी कभी आग और दर्द भी मालूम पड़ता है। कोथ यह कुछ ही जीवाणुओं का होता है जैसे मंथर ज्वर प्रलापक सन्निपात, घाटसर्प (इसमें सांस नली और गले पर झिल्ली आ जाती है), हैजा, और भयानक फोड़ा जैसे पाठा मांड आदि में होता है। इसे जीवाणु कोथ कहना चाहिए और जब पूरी इंद्रिय में या उसके किसी एक भाग में ही होता है, तो उसे इंद्रिय-कोथ कहना चाहिए। इन्द्रिय-कोथ आर्द्र अथवा शुष्क होता है। शुष्क कोथ में इन्द्रिय शुष्क और काली पड़ जाती है। आर्द्र कोथ में सूजन, नीलापन, छुलसे हुए जैसे फोड़े, रक्तस्राव बाहर निकलनेवाली वायु की आवाज, नरमी और प्रेतवत् दुर्गन्धि होती है। उसका रंग पहिले लाल होता है लेकिन बाद में लाल-सा या हरा-सा काला पड़ जाता है। जिसमें कृशता आ जाती है ऐसी इन्द्रिय कमजोर पड़ जाती है। कृशता के कारण शानतंतु, कर्म तंतु, पोषकतंतु और मांसपेशियां अपना काम करने में अक्षम और कमजोर हो जाती हैं।

(२) स्त्राव—प्रेतवत् दुर्गन्धि इस स्त्राव का विशिष्ट लक्षण है। स्त्राव पतला, काला सा लाल होता है और उसमें खून भी मिला रहता है। वह स्त्राव जहां लगता है, वहां क्षोभ पैदा करनेवाला और वहां की चमड़ी भी खानेवाला होता है। खांसी के कारण होनेवाला स्त्राव पीला-सा, नमकीन, फेनिल, गाढ़ा और बदबूदार होता है। इस दोष की विकृति से ही हैजा होता है और उसमें दस्त चावल के धोवन के रंग के होते हैं, अन्यत्र हैजा न होने पर भी लवण दोष में कभी कभी ऐसे दस्त हो सकते हैं।

(३) ज्वर—बहुत जोर का बुखार और इस दोष के अनुरूप घमनी, बारी का बुखार।

(४) घमनी—घमनी बारीक, वह अनियमित या बीच बीच में कभी कभी रुकती भी रहती है। वह अत्यधिक तेज या मंद भी होती है। वह

जितनी तेज होगी, प्राणों को उतना ही अधिक खतरा रहेगा। धमनी दुर्गन्ध भी हो सकती है।

(५) जीभ—मुह—होंठ—जीभ पर नारंगी रंग की तह, सांस में दुर्गन्ध, होंठ के अन्दर की त्वचा से छिलके उतरना।

(६) रुचि कसैली रुचि।

(७) चेहरा—गाल और आँखें भी सिकुड़ी हुई—सी, कनपटी सिकुड़ी हुई, काला-नोला चेहरा, खुला हुआ मुँह। इन चिन्ह-समूहों को ही अंग्रजी में 'डिपोक्रेटिक चेहरा' कहते हैं। हम इसे मृत्युसूचक चेहरा कह सकते हैं। नीले होंठ, चेहरा कभी कभी फीका, पीला-सा या लाल भी रहता है। आँखों के आस पास नील वलय।

(८) चयापचय—यह दोष ठंड से, मानसिक या शारीरिक श्रम से, उपवास से, दुःख से, चिंता से, तिक्त या कटु अन्न से और शारीरिक द्रव के नाश से बढ़ता है। गरमी, विश्राम, अन्न, आनन्द और मलने से यह दोष घटता है।

(९) पचनेद्वय और पचनविकार—ज्यादा भूख लगना, भोजन के बाद भी जोर की भूख प्रतीत होना, जोर की प्यास, कड़वे अन्न की उलटी, जाठर व्रण, काले-से पतले खून की उलटी, जाठर व्रण में ऐसी उलटी होती है, भोजन करने समय पसीना, पेट में गुरगुर आवाज होना।

(१०) मल—अंतर्द्वियों की अंशतः लकवे जैसी स्थिति हो जाने के कारण मलबद्धता, अतिसार,—जिसमें मल प्रेतवत् दुर्गन्धयुक्त मालूम पड़ता है, जिसमें मल के साथ खून निकलता है, या चावल के धोवन के रंग का पतला पाखाना है और जिस पतले पाखाने में प्रेतवत् दुर्गन्ध है ऐसा अतिसार, हैजा, आमातिसार जिसमें खून निकलता है और जिसमें प्रेतवत् दुर्गन्ध रहती है। बारीक, तेज धमनी, शरीर का ठंढापन, या बड़बड़-ये चिन्ह जिसमें हैं ऐसा आमातिसार, आमातिसार में मरे हुए मांस के गोले निकलते हैं, अनजान में पाखाना हो जाता है।

(११) मूत्र—मूत्र काला-सा, लाल-सा केशर के रंग-जैसा । मूत्र में श्वेतकल्क, मूत्राशय में लकवा लगने के कारण मूत्र न होना (इसमें मूत्राशय में आघात-ध्वनि 'बद'-सी मालूम पड़ती है), अनजाने पेशाब होना, मूत्रपिण्ड में मूत्र उत्पन्न न होने के कारण मूत्र न होना (इसमें मूत्राशय पर आघात ध्वनि "दन"-सी होती है)

(१२) निद्रा—नींद न आना, निद्रित-चेष्टन ।

(१३) त्वचा—त्वचा पर स्फोट (उभार) बड़ी फुन्सियां, उनमें से रक्तमिश्रित पतला साव, घी को-सी बास को पपड़ियां, हथेली और तलुओं की त्वचा में खुजलाहट, चीटीं चलने की-सी संवेदना के साथ खुजलाना, चीटीं चलने को-सी संवेदना (इसके साथ ठंडापन और बधिरता रहती है) त्वचा से छिड़कें उतरना, खुजलानेवाली फुन्सियों से काला-सा, लाल-सा दुर्गन्धिस्त्राव ।

(१४) रक्तस्त्राव—बहनेवाला खून काला-सा, लाल-सा पतला, न जमनेवाला और प्रेतगंधी होता है ।

(१५) मानसिक चिन्ह—आभास (कुछ भी न होकर दिखाई देना) अन्याभास (कोई एक दूसरा ही दिखाई देना) बड़बड़ (ऊंची या धीमी आवाज में) लज्जा, चिंता, भय, मामूली बात से कष्ट, पागलपन, भूतोन्माद, मूर्च्छा, स्मरण शक्ति का अभाव, मामूली मानसिक श्रम से थक जाना, बड़बड़ करते समय बिल्लौने पर से उठ कर भागने का प्रयत्न करना और पकड़ कर रखने पर राक्षसी ताकत का परिचय देना, अतिविज्ञान (इंद्रियों को विषयों का जो स्पर्श मालूम पड़ता है, उससे ज्यादा जोर का मालूम पड़ना) ज्ञानेन्द्रियों की अपने विषयों को जानने की शक्ति का घटना या नाश होना, विचार-शक्ति का नाश, बिस्तर के कपड़े नोंचना, काल्पनिक वस्तु को पकड़ने का प्रयत्न करना ।

(१६) शारीरिक चिन्ह—कृशता, शरीर-घटकों की अवनति होकर उनकी चरबी होना, कोथ, प्रेतगंधी दस्त और उससे रक्तावनति

और शरीर का कृश होता जाना, थकान, थका-सा मालूम पड़ना, त्वचा का कालापन लकवा, दाँत, नाखून, चेहरा और होठों में कालापन, व्रण से रक्तस्राव, व्रण में पीप न होकर वह सफेद होना, तंतुशूल ।

(१७) हाथ-पैर—ठंडे हाथ-पैर, अंगुलियां ठंडी पड़ जाती हैं और उसका स्पर्शज्ञान नष्ट हो जाता है, हथेली और तलुओं में खुजली मालूम देना, पैर और तलुओं में आग, रातको पैरों में खुजली मालूम देना, बधिर होना, कमजोर होना, हाथ-पैरों में चीटियों के चलने की-सी संवेदना, ठंडापन, बधिरता ।

(१९) आँखें—आँखों में आग, आँखों के चारों ओर नील-वलय । आँखों के सामने काले धब्बे-से दिखना, टकटकी जिस में पलके लगा-तार खुली रहती हैं और अक्षिगोलक हिलते नहीं । कृष्णमण्डल (आँख का डेला) एक कोने में जाकर सुस्थिर-से हो जाते हैं, आँखों को अपने विषय का ज्ञान रहता नहीं, लकवे के कारण आँखों का तिरछापन, इसमें एक विशिष्ट दिशा की ओर देखने से वस्तु एक होकर भी दो दिखाई देती है ।

(२०) मांस पेशियाँ—थका-सा लगना, हाथ-पैरों में थरथराहट, लकवा ।

(२१) दाँत और मसूड़े—नींद में दाँत चबाना, मसूड़े नरम और चौड़ाई में कम (इस कारण दाँतों के नीचे का हिस्सा खुला पड़ जाता है, दाँतोंपर नारंगी मैल, मामूली कारण से भी मसूड़ों से रक्तस्राव, स्पर्श, हिलने-डुलने या दबाव से दाँत दुखना, दाँतों में दर्द, दाँतोंका घिस जाना, दाँत दुखना ।

(२२) उतार—कर्पूर इस औषधि पर उतार है । रोगी से उसकी सुगन्ध लेनेको कहना चाहिए या उसका अर्क शक्कर में या पानी में घोल कर रोगी को देना चाहिए ।

(२३) सम्बन्ध—दूसरे किसी भी दोष से जब अत्यधिक कमजोरी

आ जाती है, तब यह दोष उत्पन्न होता है। यह स्वतंत्र रूप से भी उत्पन्न हो सकता है, दूसरे किसी दोष से पैदा होनेवाली अत्यधिक कमजोरी के कारण जब यह दोष उत्पन्न होता है, तब उसे दुरुस्त करना लगभग असम्भव है।

(२४) घातक चिन्ह—बहुत बारीक और बहुत तेज (अर्थात् प्रति मिनट में १२० से ज्यादा) धमनी, प्रलाप, मूर्च्छा, आभास, अन्या भास, बिछौने पर से उठकर भागने का प्रयत्न करना और किसी के रोकने पर राक्षस जैसी ताकत दिखाना, टकटकी अर्थात् निर्निमेष देखना, अक्षिगोलक स्थिर होना, कृष्ण मण्डल आँखों के कोनों में जाकर सुस्थिर होना, कपड़ों को नोचना, काल्पनिक वस्तु पकड़ने का प्रयत्न करना—ये घातक चिन्ह हैं। इन चिन्हों के दिखाई देनेपर रोगी क्वचित ही जी सकता है। धमनी की गति १४० से ज्यादा होनेपर रोगी की मृत्यु निश्चित है और निकट है, ऐसा समझना चाहिए।

(२५) पथ्यकर आहार और आचार—दूध, घी शक्कर, मांस, अंडा या दूसरा कोई भी पोष्टिक और पाचन के लिए आसान अन्न विशेषतः मूंग की दाल देना चाहिए, रोगी को आराम करना चाहिए। परन्तु जब इस दोष के साथ दूसरा कोई आशुकारी लघनीय रोग हो, तो वह दुरुस्त होते तक रोगी को पोषण नहीं देना चाहिए। इसी तरह हैजा यद्यपि एकमात्र इसी दोष का रोग है तथापि उस रोग में जबतक पेशाब लगकर मल मामूली रंग का और पतला न हो जाय, तब तक कुछ भी पोषण नहीं देना चाहिए और बाद में भी शुरू शुरू में पतला ही अन्न देना चाहिए।

(१२) उत्तेजक वायु

उत्तेजक वायु के विशिष्ट लक्षण याने मग्नज्वालिक से उत्पन्न होनेवाले और उसी से दुरुस्त होनेवाले लक्षण (चिन्ह)

प्रस्तावना—यह दोष कभी कभी दिखाई देता है और यदि यह

दोष हृदय या श्वासोच्छ्वास की मांस पेशी को ग्रस्त कर लेता है, तो प्राणघातक भी हो सकता है।

मुख्य लक्षण — घातकवात के प्रकरण में क्रियातंतु के संबंध में हम कहिले ही कह आए हैं। इस क्रियातंतु का घटक मग्नज्वालिक भी है। इसके दोष के कारण कम्प अर्थात् आक्षेप और स्तम्भ ऐसे दो प्रकार के विकार उत्पन्न होने हैं। कम्प याने बिना इच्छा के, किसी भी अंग का हिलना-डुल्लना या जो अन्तरिमिद्विष बिना इच्छा के नियमित रूप से हिलते हैं, उनका अनियमित हिलना और हिलने के बाद तुरन्त पूर्वस्थिति पर आना (जैसे किसी का सिर या हाथ लगातार आगे-पीछे होता ही रहता है) परन्तु हिलने के बाद तुरन्त पूर्वस्थिति पर न आकर स्थानभ्रष्ट स्थिति में ही कुछ या थोड़े ज्यादा समय तक स्थिर रहने को स्तम्भ कहते हैं। जैसे धनुर्वात, दंतौड़ी बंध जाना, हैजा में पैरों में गोले आदि। स्तम्भ में दुख होता है और स्तम्भ इंद्रिय को पूर्वस्थिति पर लाने का बाल्य प्रयत्न करने पर, वह इंद्रिय उसका विरोध करती है (इसीको कहते हैं - वह इंद्रिय सख्त हो गई) स्तम्भ या कम्प याने आक्षेप ये इस दोष के मुख्य लक्षण हैं। और लौहज्वालिक, लवण, अस्थिसुधा और सिकता इनके भी लक्षण हैं। तथापि प्रस्तुत दोष के कारण जब ये लक्षण प्रकट होते हैं, तो उनका जोर अन्य दोषों से उद्भूत स्तम्भ, कम्प की अपेक्षा ज्यादा रहता है। लौहज्वालिक के कारण होनेवाले स्तम्भ-कम्प के साथ बुखार रहता ही है। लवण के कारण होनेवाले स्तम्भ-कम्प में बुखार रहता है और नहीं भी रहता है। जहां स्तम्भ होता है वहां खिंचावट—सी मालूम पड़ती है। तन्तुशूल प्रस्तुत दोषका दूसरा चिन्ह है। स्तम्भ के कारण होनेवाला दुख एकाएक उद्भूत होता है और एकाएक चला भी जाता है क्योंकि स्तम्भ ही एकाएक होता है और एकाएक ठीक भी हो जाता है।

(३) ज्वर—इस दोष के कारण कभी कभी जब चारी का बुखार आता है, तो उसमें स्तम्भ या कम्प और शरीर के अग्र अंगोंमें नीलपन

ये चिन्ह पाए जाते हैं। बहुत ज्यादा यकान, ज्यादा पसीना, और जाड़ा लगना ये चिन्ह भी उन चिन्हों के साथ हो सकते हैं।

(५) जीभ—जीभ साफ रहती है या उसपर पीली, चमकदार तह होती है। आयुर्वेद में इस तह का वर्णन “अरुण” (लाल-सी पीली) शब्द द्वारा किया गया है। हमें ऐसी तह देखने का कभी मौका ही नहीं मिला।

(८) चयापचय—यह दोष ठंड से और स्पर्श से बढ़ता है। उष्णता, घर्षण और दबाने से आराम मालूम पड़ता है। आग्ल पेय से यह दोष बढ़ता है ऐसा एक ग्रंथ में लिखा हुआ है। लेकिन इस सम्बन्ध में हम संदिग्ध हैं।

(९) पचनेन्द्रिय और पचनविकार—उचकौ, अन्न की उलटी, डकार गले के नीचे जलन, पेट दुखना, पेट में गुरगुर आवाज।

(१०) मल—पतला दस्त और उसके साथ पैरों में गोलें (स्तम्भ) मालूम पड़ते हैं और उलटी होती है। पाखाना बहुत जोर के साथ होना, आव के दस्त में अंतर्द्वियों एवं चेहरे की मांसपेशियों में भी स्तम्भ (कांकने की वेदना) मलबद्धता, इसमें शुष्क, कड़ा और काला-सानारंगी पाखाना बड़े मुष्किल से होता है

(११) मूत्र—मूत्राशय का व्दार स्तम्भित हो जाने के कारण पेशाब न होना, (मूत्राशय को लकवा लगने के कारण यदि पेशाब न होता हो तो इध्मभूज्वालक देना चाहिए। स्तम्भ या लकवे की पहिचान अन्य चिन्हों के आधार पर करना होगा याने अन्य चिन्ह यदि इध्मभूज्वालक के हों, तो लकवा समझा जायगा, आघात परीक्षा में मूत्राशय से यदि ‘बद’-सी आवाज उठती हो, तभी स्तम्भ या मूत्राशय को लकवा होगया समझा जायगा परन्तु यदि उसमें भी “दिन”-सी आवाज आती हो, तो मूत्र पिण्ड में पेशाब ही उत्पन्न नहीं हुआ, समझा जायगा। इसके लिए लौहज्वालक, लवण या इध्मभूज्वालक अन्यान्य चिन्हों के अनुसार दिए जाने चाहिए) मूत्र की पेचिश, मूत्र में रेत जमना, मूत्र में मग्नज्वालक ज्यादा या कम होना।

(१२) निद्रा—नींद न आना ।

(१३) त्वचा—तलुएँ खुजलाना ।

(१५) मानसिक चिन्ह—आभास, स्मृतिनाश, मास्तिष्क थक जाना, स्वतः से लगातार बोलना या विचार करते हुए चुप बैठे रहना ।

(१६) शारीरिक चिन्ह—जाड़ा लगाना, तंतुशूल ।

(१९) आँखें—आँखों के चारों ओर नीलवर्तुल, आँखों के सामने रंग, चिनकारी या काले धब्बे दिखाई देना, अक्षिगोलकों में आक्षेप, स्तम्भमूलक तिरछापन (इसमें प्रायः एक वस्तु दो नहीं दिखाई देती और रोगी किसी भी दिशा की ओर जब देखता है, तब तिरछापन रहता ही है) आँखें खुजलाना, अन्याभास ।

(२०) मांस पेशीयाँ—स्तम्भ या आक्षेप, थकान, कम्प-वायु याने सिर या हाथ या इंद्रियों का कम्पन, इंद्रियों में थर थराहट ।

(२१) दांत और मसूड़े—ठंड से बढ़नेवाला और गरमी से कम होनेवाला दांतों का दर्द ।

(२२) उतार—कर्पूर इस औषधि पर उतार नहीं है । ग्रंथ में लिखा हुआ है कि काला धतूरा इस औषधि पर उतार है लेकिन हमें इसका अनुभव नहीं है ।

(२३) सम्बन्ध—मधुग कफ से यह दोष उत्पन्न होता है । अस्थि-सुधा और मग्नज्वालिक ये दोनों रसायनशास्त्र की दृष्टि से एक ही वर्ग के होने के कारण शरीर में कभी कभी एक दूसरे का कार्य कर सकते हैं । इसलिए चिन्हों को देखकर इन दोनों में से कोई एक औषधि निश्चित हो जाने पर भी यदि उससे फायदा न दिखाई दिया, तो दूसरी औषधि दे सकते हैं ।

(२४) घातक चिन्ह—प्राणधारण के लिए जो आवश्यक हैं उन मांसपेशियों का उदाः हृदय की या श्वासोच्छ्वास की मांसपेशियों का आक्षेप और विशेषतः स्तम्भ घातक चिन्ह हैं ।

(२५) पथ्यकर आहार और आचार—ठंड से बचना, मलना दबाना आदि से रोगी को आराम मालूम पड़ता है । मधुर कफ के प्रसंग में रोगी का जो आहार बतलाया गया है, वही इसमें भी है ।

२९. कौनसा पदार्थ शरीर में कहाँ पाया जाता है, इसे जान लेने पर दोष-निर्णय बहुत आसान कार्य हो जाता है,—

उपर्युक्त चिन्हों के आधार पर दोष निश्चित करते समय शरीर के किस भाग में कौनसा पदार्थ है इसकी जानकारी बड़ी काम आती है । वयों कि जिस भाग में जो पदार्थ होगा, उसीका दोष उस भाग में उत्पन्न होगा । इसलिए कौनसा पदार्थ शरीर के किस भाग में पाया जाता है, इसकी जानकारी निम्न कोष्ठक में दी गई है—

तृतीय कोष्ठक

शरीर-घटक-द्रव्यों के स्थान ।

पदार्थ

उसका स्थान

(१) लवण—शरीर के प्रत्येक द्रव और घन भाग में ।

(२) लौहज्वालिक—रक्त के लाल कणों में विशेष रूप से और शरीर के जीवाणुओं में भी पाया जाता है ।

(३) कुलनार यह पित्त में और यकृत में पाया जाता है । इसके अभाव के कारण मृतजीवाणुओं का निस्सारण नहीं होता । इस लिए उन मृतजीवाणुओं के कारण शरीर में कहीं पर भी पीप पड़ सकती है ।

(४) तिक्त सैन्धव—केवल द्रव भागों में ही पाया जाता है; जीवाणुओं में नहीं ।

(५) इधममृगाधिक—शरीर के प्रत्येक द्रव और घन भाग में ।

(६) लवणभूज्वालिक—द्रवभाग, मांसपेशी, तंतु और मस्तिष्क के जीवाणुओं में पाया जाता है ।

(७) इध्मभूलवण—सभी द्रवभाग, रक्तकण, मांसपेशियाँ, तंतु और मस्तिष्क के जीवाणुओं में पाया जाता है ।

(८) अस्थिसुधा—रक्त, पाचक द्रव, लार हड्डियाँ, आवरण, दाँत, दूध में पाया जाता है ।

(९) चित्राश्मा—दाँतों का आवरण, त्वचा, आवरण, रक्त-वाहिनियाँ, हड्डियों के आवरण ।

(१०) सिकता—रक्त, पित्त, मूत्र, त्वचा, बाल, नख, आवरण, हाड़ों के आवरण, तन्तु, मस्तिष्क ।

(११) इध्मभूज्वालिक—शरीर के प्रत्येक द्रव और घन भाग में विशेषतः तंतु, मस्तिष्क, मांसपेशियाँ और खून में ।

(१२) मग्नज्वालिक—मांसपेशियाँ, तंतु, हाड़, मस्तिष्क पीठ की रीढ़, शुक्र, दाँत और रक्त कणों में ।

३०. औषधियों का मिश्रण

अब यह विचार करना है कि औषधियों का चुनाव करते समय यदि एकाधिक औषधियाँ देना हो तो किस विधि से देना चाहिए? इस सम्बन्ध में तीन पद्धतियाँ प्रचलित हैं । एक पद्धति यह है कि पहिले एक औषधि के पाँच दस मिनट बाद दूसरी औषधि लेने को कहा जाय, फिर पाँच दस मिनट बाद तीसरी—इस प्रकार यथावश्यक एकाधिक औषधियाँ दी जायें । दूसरी पद्धति यह है कि जिनमें कोई तो भी एकद्रव्य (पदार्थ) समान है, उन्हींका मिश्रण कर के दिया जाय । जैसे इध्मभूलवण और इध्मभूज्वालिक इन दोनों में इध्म भूद्रव्य समान है । अतः उनका मिश्रण कर सकते हैं । इध्म भूलवण और लवण में लवण वायु (Chlorine) समान होने के कारण उनका भी मिश्रण कर सकते हैं । तीसरी पद्धति सभी औषधियों का मिश्रण करके देने को कहती है । पहिली दो पद्धतियाँ संशयरहित हैं और तीसरी भी कोई सदा नहीं यह निम्न-विवेचन से ज्ञात हो जायगा ।

मर्दन में औषधियों का प्रमाण अत्यन्त सूक्ष्म होता है अर्थात् उनके कण बहुत छोटे अणुतुल्य होते हैं। ऐसे अणुरूप पदार्थों के रासायनिक संयोग के धर्म नष्ट हो जाते हैं, यह हनिमान ने प्रयोग करके निश्चित किया है। इस का उल्लेख उन्होंने Chronic Diseases नामक ग्रंथ के ओषधि प्रकरण में २४८ वें पृष्ठ पर किया है। वहां पर जो उदाहरण दिया है, वह यह है कि हवा से संयोग पानेवाला ज्वल (Phosphorus) यदि अणुरूप किया गया तो हवा से संयोग प्राप्त करता नहीं। इससे पता चलता है कि मर्दन रूप औषधियों का मिश्रण करने पर भी उनमें परस्पर संयोगक्रिया होगी नहीं और उनका रोगहारक या रोगकारक धर्म वैसा ही कायम रहेगा।

३१. औषधियों का उतार

औषधियों के उतार के सम्बन्ध में कुछ कहने के पूर्व उनके उतार के प्रयोजन पर दो शब्द कहना उचित होगा। (१) चिकित्सा के तत्त्व जिसे ठीक तरह ज्ञात नहीं, वह यदि अन्यरोगोत्पत्तिकारक औषधि दे दें या जिसे चिकित्सा के तत्त्व ठीक तरह मालूम हैं लेकिन वह भी यदि भूल से अन्यरोगोत्पत्तिकारक औषधि दें तो उस समय “उतार” देने की आवश्यकता रहेगी। (२) या कभी यथोचित विपरीतार्थकारी औषधि ज्यादा ताकत की दी जाने के कारण रोग बहुत अधिक बढ़ गया हो और उससे रोगी को बहुत अधिक कष्ट हो, या रोगी के मरने का खौफ हो, तो उस दशामें भी “उतार” देना आवश्यक रहेगा। (३) यदि किसीने विष ही ग्रहण कर लिया हो, तो उस पर भी उतार देना पड़ेगा। मर्दनों की औषधियां देनेवालों पर प्रायः ऐसा प्रसंग आता नहीं। आया भी, तो औषधि बंद कर देने से ही प्रायः काम चल जाता है। तथापि किसी किसी मौके पर उतार देना पड़ता है। बारी के बुखार की चिकित्सा में हम पर ऐसे ही कुछ अवसर आए हैं। लवण की ज्यादा मात्रा या ज्यादा ताकत की मात्रा दिए जाने के कारण रोगवृद्धि अत्यधिक होने पर उस औषधि के “उतार” के लिए कुनीन बहुत थोड़ी मात्रा में अर्थात् चार

घ्रेन से भी कम यदि एक दो दिन दी गई, तो बारी का बुखार अच्छा हो जाता है, ऐसा हमने अनुभव किया है। यहां पर यह न समझ लेना चाहिए कि कुनीन से ही वह बुखार जाता रहा। क्योंकि उस रोग के निर्मूलन के लिए आवश्यक उतनी कुनीन की मात्रा तो हमने नहीं दी। थोड़ा कुनीन देने से उसने लवण पर 'उतार' का काम किया, यही मानना होगा। इसके अलावा उक्त प्रसंग में मूल रोग की विपरीतार्थकारी औषधि लवण ही थी, तभी तो लवण से वह रोग ज्यादा बढ़ा हुआ दिखाई दिया।

अब उतार के लिए कौनसी दवा दी जाय यह निश्चित करने की रीति बतलाई जाती है। (१) जिस औषधि पर उतार देना हो, वह औषधि मालूम न होने पर भी उसे देने को ज्यादा दिन हो जाने के कारण वह शरीर में कायम न रह कर केवल उसके द्वारा उत्पन्न रोग ही शरीर में मौजूद रहे, तो विपरीतार्थकारी पद्धति से जो औषधि निश्चित की जायेगी वही दी जाय। (२) जिस पर 'उतार' देना है, वह औषधि मालूम हो और वह अब तक शरीर में कायम हो तो उसके साथ रासायनिक पद्धति से संयुक्त होकर निरूपद्रवी पदार्थ बनानेवाली औषधि दी जाय। विव-चिकित्सा प्रायः इसी प्रकारकी होती है। उदा: पारद (पारा) विष पर अंडे का सफेद द्रव पदार्थ या दूध (३) जिसका 'उतार' करवाना हो, वह यदि मर्दन स्वरूप का हो, तो उसपर प्रतिक्रिया होगी ही। ऐसी दशा में उतार देने की आवश्यकता ही नहीं रहती। केवल उस उस औषधि के पथ्यकर आहार और आचार के सम्बन्ध में अर्थात् प्रत्येक दोष के २५ वें विभाग में जो उपाय बतलाया गया है, वही अमल में लाया जाय। प्रतिक्रिया शुरू होने के लिए यदि देर हो और उस कारण रोगी को बहुत कष्ट हो रहा हो, या उसके प्राण खतरे में हो, तो उतार देना जरूरी है।

• ऐसे अवसर पर दो प्रकार की चिकित्साएँ सम्भवनीय दिखाई देती हैं। पहिली--दी हुई जिस औषधि को उतारना है, उस औषधि से संयोग

(२) दूसरी चिकित्सा—अन्य रोगोत्पत्तिकारक औषधियां देना । इस चिकित्सा से यह स्पष्ट है कि जिस औषधि पर उतार देना है, उस औषधि के चिन्ह कुछ समय के लिए दब जायेंगे ।

अब हमेशा काम में आनेवाले उतार का वर्णन किया जाता है—

जिस औषधि को उतारना हो

उत्तार की औषधि

(१) पारा, Silver Nitrate

और अधिकतर विष शरीर से

निकल जाने पर भी विशिष्ट

रहे हुए रोगों पर उतार.....लक्षण

(२) मग्निज्वालिक को छोड़कर

सच्चिकित्सा-शास्त्र की अन्य

ग्यारह मर्दित औषधियों पर

उतार.....कर्पूर, मूलद्रव्य का अल्पप्रमाण में
सेवन करें या सुँघें या कर्पूर के

अर्क के चार पांच बूंद पानी में
या शक्कर में मिलाकर दिए जाएँ ।

(३) मवित लवण पर उतार कुनीन (मूलद्रव्य)

(४) मन्ज्वालिक पर उतार कालाधतूरा

नोटः—उतार की इन औषधियों में केवल लवण और कुनीन का हो हमें अनुभव है । कुनीन के विषय में पहिले ही विस्तारपूर्वक कहा जा चुका है । लवण से यदि चारों का बुखार बढ़ता है, तो उसपर कुनीन का उतार दिया जाय और अन्ध अवसरों पर कर्पूर दिया जाय ।

यहां के होमियोपैथिक डाक्टर अग्याजी फडनविम का कहना है कि कर्पूर या काँफी से किसी भी औषधि का प्रभाव तत्काल नष्ट हो जाता है । उतार के लिए वे हमेशा Rubin's Camphor और काँफी (तीन्नि-मर्दने की) का उपयोग करते थे ।

३२. शस्त्र-क्रिया कब करनी चाहिए—

औषधि-योजना के रहस्य का वर्णन पूर्णरूप से हो चुका । अब शस्त्र क्रिया का रहस्य-वर्णन किया जाता है । आज कल जब तब शस्त्र-क्रिया करने की एक प्रथा-सी पड़ गई है । उस से अनेकों दुष्परिणाम हो रहे हैं । इसलिए शस्त्र-क्रिया का रहस्य समझ लेना बहुत जरूरी हो गया है ।

शस्त्र-क्रिया एक प्रकार की विपरीत चिकित्सा ही है । शस्त्रक्रिया के उपरान्त शारीरिक प्रतिक्रिया होकर रोग फिर से बहुत जोर के साथ प्रकट होता है या शस्त्रक्रिया यदि बहुत जोर की और पूर्ण रूप से की गई, तो शरीर प्रतिक्रिया के लिए असमर्थ हो जाता है और फिर वही रोग दूसरी जगह प्रकट होता है या कोई दूसरा ही रोग उत्पन्न होता है ।

एक दूसरी भी दृष्टि से शस्त्र-क्रिया पर विचार कर सकते हैं । शस्त्र-क्रिया यह स्थानिक रोग पर ही की जाती है । स्थानिक रोग आगन्तुक कारणों से होता है जैसे घाव आदि या आगन्तुक कारणों के बिना

भी होता है। आगन्तुक कारणों के बिना होनेवाले स्थानिक रोग सारे शरीर में उत्पन्न होनेवाले मल के किसी एक स्थान पर एकत्रित होने का ही परिणाम है। यही स्थानिक रोग की उपपत्ति है, दूसरी कोई हो ही नहीं सकती। स्थानिक रोग में स्थान-विशेष पर जमा हुआ मल यदि शस्त्रक्रिया से निकाल दिया जाता है, तो भी आगे चल कर मल का उत्पन्न होना उस शस्त्र-क्रिया से बंद नहीं होता। वह उसी स्थान पर फिर से जम कर उसी स्थानिक रोग को उत्पन्न करता है या शस्त्र क्रिया द्वारा मल के एकत्रित होने का वह स्थान यदि सर्वथा नष्ट कर दिया गया तो दूसरे किसी भी स्थान पर वह (मल) एकत्रित होकर कोई नया रोग उत्पन्न करता है। यह नया रोग कई बार शरीर के किसी नाजुक हिस्से में उत्पन्न होकर प्राणघातक भी बन बैठता है। एक मरीज के फांते (अण्ड कोष) में पानी हो गया था। उस पर शस्त्रक्रिया करने पर मरीज को पतले दस्त की बीमारी और राजयक्ष्मा होकर उसे स्वर्गवासी होना पड़ा। अनागन्तुक-स्थानिक रोगों पर शस्त्रक्रिया करने से ऐसे ही प्राणपहारी दुष्परिणाम होते हैं। ऐसी शस्त्रक्रिया के सम्मोहन से डाक्टर और मरीज जिस दिन मुक्ति पायेंगे, वह सचमुच सुदिन ही समझा जायगा। प्रस्तुत प्रसंग में निम्नांकित उद्धरण मननीय है। “Scrofula:—Constitutional is of more importance than local treatment. The mistake is too liable to be made of regarding the enlarged glands as being always the result of some peripheral lesion through which the bacilli have gained admission. Recent researches have demonstrated as the author has shown in his Cavendish Lectures 1908, that the cervical lymphadenitis is often caused by the introduction of the bacilli through the intestinal rout. The remarkable tendency of the gland lesions to remain circumscribed or confined to the lymphatic system when not interfered

with by efforts at removal is becoming more widely realised. (Whitla's Dictionary of treatment 987)

अर्थ—गण्डमाला पर स्थानिक चिकित्सा करने की अपेक्षा सार्व शारीरिक चिकित्सा करना ही अधिक महत्वपूर्ण है। आजकल यह एक गलत धारणा दृढ़मूल-सी होती जा रही है कि सूक्ष्म जंतु शरीर की बाह्य विकृति, घाव आदि में से अन्दर प्रवेश करके पिण्ड को बड़ा करते हैं, यही पिण्ड बड़ा होनेका नित्यप्रति अनुभूत होनेवाला कारण है। लेकिन आज के नूतन खोजों से यह सिद्ध हो चुका है और इसी ग्रंथकार ने १९०८ के केवेण्डिस व्याख्यान माला में यह दिखाया है कि गण्डमाला रोग पेट में गए हुए सूक्ष्म जन्तुओं से उत्पन्न होता है। पिण्ड-वृद्धि रोग में शस्त्रक्रिया से यदि पिण्ड निकालने का प्रयत्न न किया गया, तो यह रोग पिण्ड को छोड़कर अन्य स्थान पर जाता ही नहीं और पिण्ड में ही मर्यादित रहता है। यह जो इसका विलक्षण धर्म है, इसका अनुभव दिन-पर-दिन अधिकाधिक किया जा रहा है।” उक्त उद्धरण से यही व्यंजित होता है कि पिण्ड निकालने का प्रयत्न करने से यह रोग पिण्ड छोड़कर अन्यत्र भी प्रकट होता है। एक स्त्री के गर्दन का पिण्ड निकालने पर उसे सर्वांग में पिण्डवृद्धि हुई थी, यह हमने अपनी आंखों से भी देखा है।

तात्पर्य अनागन्तुक स्थानिक रोगों पर शस्त्रक्रिया कदापि लाभप्रद नहीं होती। तथापि जिस प्रसंग में विपरीत चिकित्सा की जाय ऐसा पिछले पृष्ठों पर हमने कहा है, उस उस प्रसंग पर शस्त्रक्रिया करना निश्चय ही हितकर है। उदा: (१) शरीर में गड़े हुए कांटे को निकालना (२) आंतर विद्रधि की पीप शरीर में नाजुक स्थानों में प्रवेश कर मृत्यु का कारण बनने के पूर्व ही शस्त्रक्रिया द्वारा बाहर निकालना (३) अन्तर्गल (Incarcerated hernia=पेट के आवरण में छेद कर के बाहर निकली हुई अँतड़ी का बाहर ही अटके रहना) जैसे रोग शरीर-यंत्र की रचना बिगाड़कर और शरीर की अन्तर्बाह्य होनेवाली

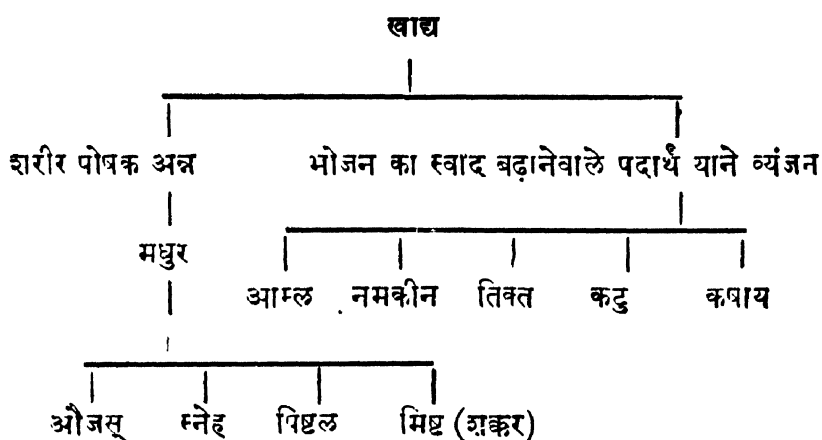
विभिन्न गतियों में रुकावटें डालकर तुरन्त मारक बन बैठते हैं। शस्त्रक्रिया करके ऐसी रोग जन्य मृत्यु से बचाव करना, आड़ा-पड़ा गर्भस्थ बालक चीरना, मूत्राश्मरी (मूत्राशय में पैदा हुआ कंकड़) निकालना, घाटसर्प रोग में श्वासनलिका छेद करना, बहुत अधिक स्त्राव के फुफफुसावरण प्रतिश्याय में हृदयादि इंद्रियों का स्थानान्तर, फुफफुसों का संकोच और उनसे होनेवाली मृत्यु टालने के लिए सुई गड़ा कर पानी बाहर निकालना आदि क्रियाओं का भी इसमें अन्तर्भाव हो जाता है (४) रक्तस्त्राव जैसे विकार से उत्पन्न होनेवाले प्राणघातक कमजोरी शस्त्रक्रिया से टालना, ऐसे ही प्राणान्तक अवसरों पर शस्त्रक्रिया विधेय है। केवल औषधि-शास्त्र की ही जानकारी रखनेवाले वैद्य को ऐसे अवसर पर शस्त्र-वैद्य की सहायता लेना बहुत जरूरी है। लेकिन बाहर के किसी भी फोड़े पर या घाव पर शस्त्रक्रिया करने की कतई आवश्यकता नहीं है। बिना शस्त्रक्रिया के फुटे हुए फोड़े बहुत जल्दी भर आते हैं। उसमें बत्ती डालने की दुःखदायी क्रिया करने की आवश्यकता ही नहीं रहती और उस स्थान को बहुत कम विरूपता प्राप्त होती है।

यह सत्य है कि यदि शस्त्र-वैद्य उक्त तत्वों को ध्यान में रखते हुए शस्त्रक्रिया करेंगे, तो उससे दुनिया उनकी आज्ञा, ऋणी रहेगी।

३३. आहार-विहार पर विचार करनेकी आवश्यकता

अब तक यह समझाया गया कि रोगोन्मूलन के लिए किस प्रकार की चिकित्सा का अवलम्बन किया जाय। लेकिन इतने से ही चिकित्सा-शास्त्र पूर्ण नहीं कहला सकता। रोगी मनुष्य को कौनसा अन्न खाना चाहिए और कैसे रहना चाहिए जिससे कि उसका रोग बढ़े नहीं, यह बतलाना भी जरूरी है। इसी प्रकार नीरोगी मनुष्य को भी अपना स्वास्थ्य बनाए रखने के लिए किस प्रकार के आहार-विहार का अवलम्बन करना चाहिए, यह जानना भी जरूरी है। अतः यहां सर्व-प्रथम आहार (खाद्य) पर विचार किया जाता है।

खाद्य के निम्नदर्शित छः प्रकार हैं



मधुरेतर पदार्थ अनावश्यक हैं। उपर्युक्त प्रकारों में से व्यंजन शरीर पोषण के लिए आवश्यक नहीं है। लेकिन बात यह है कि इन्सान ने उन व्यंजनों की आदत डाल रखी है। यह सत्य है कि कुछ आम्ल पदार्थों से शरीर—पोषण होता है, तथापि आम्ल पदार्थ का पचाना शरीर को बहुत भारी जाता है। यह भी सत्य है कि शरीर को नमक चाहिए। लेकिन खाद्य में अलग से मिलाकर जो नमक मनुष्य खाता है, वह पोषक नहीं है। पदार्थों में स्वभावतः जो लवण पाया जाता है, वही वस्तुतः पोषक है। सभी व्यंजन रोगोत्पादक हैं। यदि हम उन्हें अत्यन्त सौम्य प्रमाण में लेते हैं, तो, सम्भव है, उनसे हानि न होकर लाभ ही हो।

आवश्यक पदार्थ और उनका प्रमाणः

मधुर पदार्थ आवश्यक एवं पोषक हैं। ओजस् से ही शरीर के सब भाग बनते हैं। स्नेह, पिष्टल और मिष्ट से शरीर में चरबी बनती है और वह शरीर के रिक्त स्थानों में रखी रहती है। वह शरीर में जलती है जिससे शरीर में गरमी और ताकत पैदा होती है। ओजस् भी जलकर गरमी पैदा करता है लेकिन वह गरमी चरबी के जलने से पैदा होनेवाली गरमी से

कम होती है। इससे स्पष्ट है कि मनुष्य ओजस् के बिना जीवित नहीं रह सकता और वह एक मात्र ओजस् पर ही कुछ समय तक जी सकता है। लेकिन केवल स्नेह, पिष्टल या मिष्ट पदार्थों पर शरीर थोड़े समय के लिए भी संप्राण नहीं रह सकता।

शरीर को सुस्वस्थ रखने के लिए साधारणतः अब इस प्रकार लिया जाय कि उससे शरीर में ओजस् और वसा समप्रमाण में उत्पन्न हो (परिश्रमी को ओजस् अधिक चाहिए और टैंड के दिनों में वसा अधिक चाहिए) मतलब यह कि ओजस् और स्नेह मात्र यदि हम खाना चाहते हैं, तो सम प्रमाण में खाएँ। लेकिन स्नेह ज्यादा महँगा होने के कारण उसके बदले पिष्टल या मिष्ट खाना हो तो लगभग स्नेह के सात गुना खाना चाहिए। उपर्युक्त तत्व को ध्यान में रखते हुए खाद्य पदार्थों का मिश्रण कैसे किया जाय यह समझने के लिए चावल, गेहूँ आदि खाद्य पदार्थों में ओजस् आदि किस प्रमाण में पाया जाता है यह जान लेना उचित ही होगा जो निम्न कोष्ठक में बतलाया गया है। उसमें सभी पदार्थ सौ की संख्या में हो, तो ओजस् आदि का प्रमाण कितना रहेगा यह दिखलाया गया है।

कोष्ठान्तर्गत संख्या स्थूल है। अतः कुछ थोड़ा अंतर रहेगा ही।

चौथा कोष्ठक

पदार्थ का नाम	ओजस्	स्नेह	स्निज पदार्थ	पानी	पिष्टल और मिष्ट मिलाकर
चावल	७५५	१८	१९	...	९०७५
गेहूँ	१२६५	१८७	२१२	...	८३२६
मटर की दाल	२३८	२१	२१	९८	६२२
गाय का दूध	४१	३९	८	८६०	५२
घी		१००		...	
मक्खन	३	९१	२७	६०	
शक्कर			४	३	९६५

चौथा कोष्टक

अंडा	१४	१०.५	१.५	७४	
भांस (बकरे की)	१६	२५.३	०.७	५८	
आलू	१.५	०.११	१.२६	७४	२२.१३
ज्वार	लगभग गेहूँ के समान				
जौ	१२.९६	२.७६	३.१	...	८१.१८
शकरकंद	१.५	०.३०	२.६	६७.५	२७.८
मसूर की दाल	२५.२	१.६	२.३	११.५	५८.४
उड़द की दाल	२५.५	२.८	३.२	९.९	५८.६
मका	१२.५	६.८	१.२५	...	७७.४५
सफेद मच्छी	१८.१	२.९	१	७८	
अंडे का सफेद हिस्सा	२०.४	...	१.३	७८	
अंडे का पीला हिस्सा	१६	३०.७	६.३	५२	
मलाई	२.७	२६.७	१.८	६६	२.८
केला	१	०.५	०.५	७८	१९.९
अंगूर	१	१	४.४	७९.८	१७.४

कोई भी दाल लगभग मसूर की दाल के समान रहती है। मूंगफली, बादाम, पिस्ता में ओजम् और स्नेह बहुत अधिक होता है। लेकिन उनमें पिष्टल और मिष्ट नहीं रहता। तिल्ली, जवस, अकोड़ आदि के विषय में भी ऐसा हो है।

शाक सब्जी में प्रायः खनिज पदार्थ ही पाए जाते हैं और उनमें लकड़ी जैसा अंश भी रहता है। यद्यपि शाक सब्जी में पिष्टल ओजम् कुछ कुछ पाए जाते हैं, तथापि उसे खनिज पदार्थ या जीवद-द्रव्य (Vitamins) के लिए ही खाना जरूरी है।

जीवद-द्रव्य (Vitamins)

जीवद-द्रव्य प्राणियों के स्वाभाविक अन्न में पाए जानेवाले सेन्द्रिय

पदार्थ हैं। प्रत्येक मनुष्य को यह यथावश्यक पर्याप्त मात्रा में प्रति दिन मिलना ही चाहिए। मनुष्य को यदि वह आवश्यक प्रमाण में खाने को न मिले, तो कोई तो भी रोग उत्पन्न होता है। अतः रोग दुरुस्त करने के लिए जैसे औषधियों की (अर्थात् पूर्वोक्त बारह खनिज पदार्थों की) आवश्यकता है, उसी प्रकार नीरोगी रहने के लिए जीवद-द्रव्यों की भी। परन्तु वे मनुष्य को उसी के स्वाभाविक अन्न से प्राप्त होते रहने चाहिए न कि स्वतंत्र रूप से (जो कि आज कऽ बाजारों में पाए जाते हैं) अतः योग्य औषधि देने पर भी रोगी का कोई रोग यदि दुरुस्त होता हुआ नहीं दिखाई देता, तो मरीज में यथावश्यक जीवद-द्रव्य के अभाव का निर्णय कर के ही, वह जीवद-द्रव्य जिस पदार्थ में होगा, वही मरीज को ज्यादा प्रमाण में लेने को कहना चाहिए ! तथापि आगे दिए हुए पांचवें कोष्ठक के छठवें खण्ड में वर्णित पदार्थ ही मरीज को देना सभी दृष्टि से समोचीन होगा। सामान्यतः बीमार को अन्न बतलाते समय उसे सभी जीवद-द्रव्य प्राप्त होते रहेंगे, इस बात पर ध्यान रखना जरूरी है। यह भी हम ध्यान में रखें कि पानी में कोई भी पदार्थ पकाने से सामान्यतः उसके जीवद-द्रव्य का नाश नहीं होता। हाँ, जिस पानी में पदार्थ पकाया जाता है, वह पानी फेंकना नहीं चाहिए। क्योंकि उस पानी में जीवद-द्रव्य (ब १, ब २ और क) मिले हुए रहते हैं। कृत्रिम घी (डाब्बा) और कृत्रिम मक्खन में जीवद-द्रव्य नहीं रहते। जीवद-द्रव्य के सम्बन्ध में आज जो कुछ भी जानकारी उपलब्ध है, वह अगले पांचवें कोष्ठक से ज्ञात होगी।

भोजन में ओजप्रधान, स्नेहप्रधान, पिष्टल-प्रधान या मिष्ट प्रधान पदार्थ तथा शक्त सञ्जी पदार्थ भी होने चाहिए ताकि मनुष्य अपनी वैयक्तिक रुचि के अनुसार जो आवश्यक है वही खा सके। लेकिन भोजन के पदार्थों में उक्त प्रबन्ध न किए जाने के फलस्वरूप मनुष्य खाता ही जाता है और उसका सम्भोजन नहीं हो पाता; जब उसे अपना पेट खाते-खाते भारी मालूम पड़ता है, तभी वह अपना हाथ रोक लेता है। ऐसे भोजन से मनुष्य को विकार होता ही है। इस लिए भोजन

पकाते समय उपर्युक्त बातें ध्यान में रखते हुए विभिन्न आवश्यक सभी पदार्थ प्रतिदिन पकाए जाने चाहिए।

उपर्युक्त चौथे कोष्टक के अध्ययन से दिखाई देगा कि भात के साथ कोई तो भी दाल अवश्य चाहिए। केवल गेहूँ, दूध, मांस या अण्डे पर भी शरीर का पोषण पूर्णरूप से हो सकता है। भोजन में चावल, दाल, गेहूँ या ज्वार की रोटी, सब्जी, घी या तेल इतने पदार्थ अवश्य होने चाहिए। इसी के साथ दूध, शक्कर, मांस, अण्डे भी अपनी सामर्थ्य के अनुसार भोजन में यदि हम सम्मिलित करते हैं, तो और भी अच्छी बात है। एक साल से छोटे बच्चों में पिछल पदार्थ हजम करने की ताकत नहीं होती और कुछ रोगियों में भी यही बात पाई जाती है। दूध, मांस, बादाम, अण्डे, पिस्ता इन पदार्थों पर ही उन्हें रहने को कहना चाहिए। मधुमेह या जल दोष के रोगों को छोड़कर दूसरों को और छोटे बच्चों को भी दूध में शक्कर मिलाकर देना हितकारी है। दूध में शक्कर न मिलाने से पेट में दूध की बड़ी बड़ी गिलटीयाँ बन जाती हैं और वे विकार करती हैं।

३४. खाद्य पोषक और सुपचनीय भी होने चाहिए

अन्न में ओजस् आदि पदार्थों के होने मात्र से वह गुणकारी सिद्ध नहीं होता, एतदर्थ वह सुपचनीय भी होना चाहिए। शकरकंद और आलू में पिछल पदार्थ लगभग समान है। तथापि आलू शकरकंद की अपेक्षा ज्यादा गरिष्ठ है। इस प्रकार पचनीयता की दृष्टि से आलू की अपेक्षा शकरकंद ज्यादा अच्छे हैं। इसी तरह उड़द और ज्वार की अपेक्षा मूंग या मसूर की दाल अच्छी है, भैंस के दूध की अपेक्षा गायका दूध अच्छा है और मूंगफली की अपेक्षा बादाम या पिस्ता अच्छा है।

३५. आदत के कारण पचा लेने की शक्ति होती है

इसके अतिरिक्त जिनके यहां बापदादाओं के समय से जो अन्न खाते चले आए हैं, उसे पचाना उनके लिए कोई कठिन बात नहीं है।

जिनके पूर्वज गेहूं खाते आए हैं उन्हें ज्वार, जौ या बाजरा हजम करना कठिन है और जिनके पूर्वजों में ज्वार खाने की आदत है उन्हें गेहूं, जौ, बाजरा पचाना कठिन है। इस प्रकार यह ध्यान में रखना है कि ज्वार जौ गेहूं और बाजरा इनके ओजसादि घटक समान होकर भी पचनीयता की दृष्टि से उनमें समानता नहीं है। प्रायः सभी खाद्यपदार्थों का हमने गुणदोष-वर्णन आगे किया ही है--उसमें हर एक को पचनीयता पर पर्याप्त प्रकाश डाला ही है।

३६. अन्न का संस्कार—

अन्न अन्न पर जो अग्नि-संस्कार किया जाता है, उसके गुण दोषों को भी जानना अत्यावश्यक है। अन्न संस्कार के अनेकों प्रकार हैं (१) पहिला प्रकार—अन्न को पानी में डालकर उस पानी को उबालना (२) अन्न के आटे में पानी मिलाकर उसे पानी की भाप से या प्रत्यक्ष अग्नि से तपाए हुए तवे से उष्णता देना (३) अन्न के आटे को पानी में सान कर उसे तेल में या घी में तलना (४) अन्न के सूखे आटे को तेल में या घी में भूँजना। अग्नि-संस्कार के इन चार प्रकारों में अंतिम दो प्रकार स्वास्थ्य की दृष्टिसे बिल्कुल ही निन्द्य एवं त्याज्य है। क्योंकि तेल की या घी की उबलने की उष्णता बहुत अधिक होने के कारण उससे अन्न का जीव (सत्त्व) नष्ट हो जाता है और वह अन्न के पोषक के बदले रोग-कारक बन बैठता है। पहिले दो प्रकारों में भी अन्न के जलकर (अत्युष्ण होकर) लाल या काला होने तक उसे उष्णता नहीं देना चाहिए। ये ही दो प्रकार शास्त्रीय अग्नि-संस्कार के नाम से आगे अभिहित किए गए हैं। शास्त्रीय अग्नि-संस्कार से अन्न के कुछ प्रकार विशेषतः पिष्टल अन्न सुपचनीय हो जाते हैं और कुछ का रोगकारक धर्म भी नष्ट हो जाता है। लेकिन उनकी पोषकता घट जाती है। इसलिए कच्चा अन्न खाने से उसकी मात्रा कम लगती है। ऐसा भी लगता है कि कच्चा अन्न खानेवाले को ज्वर का उपद्रव और मैथुनेच्छा भी बहुत कम होती है। पका हुआ अन्न खाने की आदत

मनुष्य ने अनादिकाल से डाल रखी है। इसीलिए वह पद्धति आज ग्राह्य हो गई है। मांस और दूध तो बिना पकाए कभी नहीं खाना चाहिए। क्योंकि उनमें रोगजन्तु की सम्भावना बहुत अधिक रहती है जो पदार्थ के पकने पर मर जाते हैं।

अन्न-संस्कार के सम्बन्ध में दूसरी महत्व की बात यह है कि अन्न धान्य का ओजस् और खनिज पदार्थ उनके तुष के निकट ही रहता है और यह तुष अंतडियों की गति में भी सहायक होता है। इसलिए तुष को धान्य से अलग नहीं करना चाहिए। परन्तु चावल का, तुवर का या जव का तुष बहुत कठिन होने के कारण उसे निकालना ही चाहिए। तथापि सावधानी यह रखी जाय कि उस धान्य का ओजस् और खनिज पदार्थ नष्ट न हो। चावल पकाते समय मांड़ को फेंक देने की कहीं कहीं प्रथा है जो बिलकुल ही त्याज्य है। क्योंकि उस मांड़ में ओजस्, जीवद-द्रव्य और खनिज पदार्थ रहते हैं। अतः उसे नहीं फेंकना चाहिए।

अब मनुष्य के नित्य खाने में आनेवाले प्रायः सभी पदार्थों का एक एक करके विशिष्ट गुणधर्म बतलाया जाता है। इसमें पेय पदार्थ भी अन्तर्भूत किए गए हैं—

३७. पानी

पानी की शरीर को बहुत अधिक आवश्यकता है। प्यास लगने पर मन प्रसन्न हो सके इतना ठंडा जल तृप्ति होते तक पीना चाहिए। ज्यादा ठंडा पानी नहीं पीना चाहिए। शरीर के सभी कार्य-व्यापार पानी के बिना रुक जाते हैं। खास तौर से अन्न-पचन की क्रिया को और शरीर के अन्तस्थमल की निष्काशन-क्रिया को पानी की बहुत अधिक आवश्यकता रहती है। तथापि अन्न के साथ ज्यादा पानी नहीं पीना चाहिए। ज्यादा पानी पीने से पाचक-द्रवों की ताकत घटती है और अजीर्ण होता है। ज्यादा पानी एकदम न पीकर थोड़ा-थोड़ा अधिक बार पीना चाहिए।

ज्यादा पानी पीने से जलदोष, पूयपित्त, तिक्तपित्त, मधुरकफ, सौम्यकफ, दोष उत्पन्न होते हैं। अतः इन दोषों से जो लोग पीडित रहते

हैं, उनको थोड़ा थोड़ा पानी पीना चाहिए ।

ज्यादा ठंडा पानी पीने से जलदोष, मधुरकफ, सौम्यकफ, उत्तेजक वात और घातक वात विकार उत्पन्न होते हैं । इन दोषों से पीडित मनुष्यों को ठंडा जल नहीं पीना चाहिए । उनको ऐसा पानी पीना चाहिए जो पीनेवाले को न गरम मालूम दे और न ठंडा ही मालूम दे । पानी को अत्यल्प उष्णता देकर हम उसे “न गरम न ठण्डा” जल बना सकते हैं । बीमार को हमेशा ऐसा ही पानी पीने को देना चाहिए । ऐसा पानी रात-बेरात भी हम मरीज को दे सकते हैं ।

बहुत कम पानी पीने से रंजकमिती, श्वेतकफ और जलदोष उत्पन्न होते हैं । इसलिए इन दोषके रोगियों को थोड़ा ज्यादा पानी पीना चाहिए । ग्रीष्म के दिनों में भी ज्यादा पानी पीना जरूरी है । गरम पानी कोई भी कभी न पीए । पीने का पानी स्वच्छ और शुद्ध होना चाहिए । बरसात के अंत में ऊपर से गिरा हुआ और पात्र में लिया हुआ पानी नितान्त शुद्ध होता है । वह न मिलने पर गहरे कुएँ का मधुर जल पीना चाहिए जिस कुएँ में नाली का पानी रिस कर आता हो, उस कुएँ का पानी नहीं पीना चाहिए) ऐसा भी पानी नहीं मिले, तो अस्वच्छता से सुरक्षित किसी तालाब का मधुर जल पीना चाहिए । वह भी न मिले, तो नदी का स्वच्छ बहता जल पीना चाहिए । नदी या तालाब का पानी स्वच्छ न हो, तो पानी का मैल नीचे जमने पर ही उसे पीना चाहिए । मैल छौटने के लिए फिटकरी या निर्मली के बीजों का भी उपयोग कर सकते हैं ।

३८. दूध

दूध यह पूर्ण रूप से अन्न है याने शरीर के लिए जितने भी आवश्यक पदार्थ हैं, वे सब उस में मौजूद हैं । अतः अकेले दूध पर ही कोई भी प्राणी रोग-रहित स्थिति में जीवित रह सकता है । यह हम-आप-सभी प्रत्यक्ष देखते हैं । दूध में यदि पानी न रहता, तो वह मांस जैसा ही शरीर के लिए पुष्टिकारक पाया जाता । इसीलिए तो मांस न

खानेवालों की दृष्टि में दूध ही सर्वाधिक पुष्टिकारक है ।

जिसे रोज दूध पीना है, वह या और कोई मरीज गाय का ही दूध पीए । भैंस का दूध एकाध दिन पीने से कोई नुकसान नहीं । बकरी का दूध गायके दूध के समान ही हितकर है ।

दूध को उबाल आते तक तपाना चाहिए और फिर पानी जैसा ठंडा कर के पीना चाहिए । दूध तपाते समय लाल या लाल-सा नहीं होने देना चाहिए । जलदोष और रंजकपित्त के रोगियों को छोड़कर औरों को दूध में शक्कर घोलकर पीना हितकारी है । छोटे बच्चों को भी बिना शक्कर घोले दूध नहीं देना चाहिए । “ शक्कर से जन्तु होते हैं , ” मानना भ्रामक है (जन्तु अजीर्ण से होते हैं) दूध पानी-जैसा एकदम नहीं पीना चाहिए । छोटे चम्मच से एक एक चम्मच दूध पीना चाहिए, उद्देश्य यह कि दूध के साथ पेट में लार भी बहुत-सी जाएँ । बिना लार के दूध हजम होता नहीं और वह पतले दस्त या मलबद्धता पैदा करता है । जो दूध में शक्कर नहीं डलवाना चाहता है, वह भात या रोटी के साथ दूध ले । दूध में आरारोट पकाकर खाने से वह बहुत फायदा करता है; बीमारी से उठे हुए मनुष्य को शक्ति-संवर्धन के लिए दिया जाता है और जिनका दूध--शक्कर से पेट भरता नहीं ऐसे बच्चों को भी यह दिया जाना चाहिए ।

गाय का और बकरी का दूध पाचन के लिए हलका होता है और भैंस का भारी । गाय का दूध, श्वेत कफ, तिक्तपित्त या मधुर कफ का विकार पैदा करता है लेकिन वह रंजकपित्त, जलदोष, आम्लपित्त, पीतपित्त या घातक वात पर हितकर है । भैंस का दूध भारी होने के कारण घातक वात को छोड़कर सभी दोष उत्पन्न करता है । कोई भी दूध घातक वात पर लाभप्रद है ।

छोटे बच्चों को माँ के या दाई के दूध के समान कोई भी दूध हितकारी नहीं । तथापि उसके अभाव में गाय का दूध दिया जा सकता है ।

दूध पीनेवाले को पानी कम पीना चाहिए और व्यायाम अधिक करना चाहिए। कच्चा दूध कभी नहीं पीना चाहिए। वह भारी और दोष कारक होता है। औंटा हुआ दूध (खोआ) बहुत भारी और दोष कारक है।

निर्वातस्थल में Air Pump की सहायता से दूध का पांनो सोख लेने से जो चूर्ण शेष रह जाता है, वह दूध से भी हलका होता है। उसमें फिर से पानी मिलाने पर जो दूध तैयार होता है, वह मूल दूध से भी हलका होता है। वह बीमार को दे सकते हैं।

३९. दही

दूध के पुष्टिकारक गुण दही में हैं और वह पाचन के लिए भी ज्यादा हलका होता है। लेकिन उसका खट्टापन बड़ा ही हानि कारक है--वह जलदोष, रंजकपित्त और आम्लपित्त दोष पैदा करता है। इसलिए बीमार को वह कभी नहीं देना चाहिए। स्वस्थ मनुष्य भी उसका एकाध बार ही सेवन करे, रात को तो नहीं खाए। ज्यादा ठंड या ज्यादा गरमी के दिनों में उसे नहीं खाना चाहिए। श्रीखण्ड पौष्टिक है, लेकिन बहुत भारी है और दोष कारक तो है ही।

४०. छाँछ—

दही में पानी मिला कर छाँछ बनाया जाता है। इसलिए दही के ही गुणदोष छाँछ में कुछ कम प्रमाण में पाए जाते हैं। इसके अलावा पानी के भी गुणदोष उसमें होते हैं। इसलिए श्वेतकफ और घातकवात के रोगी के लिए वह हितकर होता है। लेकिन ऐसे रोगी को भी छाँछ उनमें जलदोष, तिक्तपित्त या रंजक पित्त उत्पन्न करके ही, फायदा पहुँचाता है। तत्पर्य यह कि छाँछ बीमार को कभी नहीं दिया जाय। स्वस्थ मनुष्य पूर्व परम्परागत प्रथा के अनुसार अकेले या बेसन के साथ उबाल कर-यादि सोम्य रूप में आम्ल हो तो—ले सकते हैं। बीमार को छाँछ देना ही है, ता दूध में जामन डालकर बारह घंटे बीतने दें तत्पश्चात् उसका छाँछ बना कर रोगी को दिया जाय।

४१. घी, मक्खन (मलाई)

ये दोनों पदार्थ शरीर के लिए पोषक एवं हितकर है। मक्खन में कुछ खट्टापन होता है अतः वह दोष कारक भी है। इसके अलावा मक्खन स्तम्भक भी है। परंतु उसमें शरीर के पार्थिव पदार्थ होने के कारण वह कुछ रोगों पर फायदा भी पहुँचाता है। इसलिए मक्खन के उपर्युक्त दोषों से बचकर केवल गुण ही ग्रहण करना हो, तो दूध पर की कोमल मलाई काम में लाई जाय। यह रंजक पित्त, घातक वायु, जलदोष और मधुर कफ पर हितकारी है।

घी, मक्खन-मलाई शरीर में मेदा बढ़ाकर शरीर की उष्णता कायम रखने हैं। मांसवर्धन नहीं करते। लेकिन मांस-क्षय होने से थोड़ी बहुत रक्षा करते हैं। इसलिए केशल, घी, मलाई, मक्खन पर कोई जीवित नहीं रह सकता।

मक्खन स्तम्भक है, इस कारण बहुत से वैद्य रक्तस्राव की मूल-व्याधि पर रोगी को मक्खन खाने देते हैं। लेकिन यह विपरीत चिकित्सा होने के कारण समझदार वैद्य वैसा कदापि नहीं करेगा।

घी और मक्खन ज्यादा प्रमाण में खा लेने से श्वेतकफ, रंजकपित्त, जलदोष, तिक्तपित्त आम्लपित्त और पीतग्निक विकार होते हैं। मेदा रोग से यदि कोई ग्रस्त न हो, तो वह प्रतिदिन घी, मक्खन या मलाई अल्प मात्रा में तो भी अवश्य खाएँ।

४२. खाने का तेल—

खाने का तेल तिल्ली, जवस, भूगफलो आदि पदार्थों से बनाया जाता है। घी जैसा ही उनका गुणधर्म है लेकिन पाचन के लिए जड़ है। जो परम्परा से तेल खाते आए हैं, उन्हीं को तेल अच्छी तरह हजम होता है। यदि हजम नहीं हुआ, तो उससे रंजकपित्त, तिक्तपित्त, आम्लपित्त, पीतपित्त, जलदोष, श्वेतकफ विकार होते हैं।

तेल प्रतिदिन बघार के रूप में थोड़ा बहुत खाने में कोई नुकसान नहीं है।

४३. गन्ने का रस—

दांत से चबा कर चूसा हुआ गन्ने का रस हितकारी है। वह रंजकपित्त के, जलदोष के और घातक वात के विमार के लिए हितकर है। गन्ने का मुख्य द्रव्य शक्कर होने के कारण वह शरीर में मेदा उत्पन्न करता है।

यंत्र से निकाला हुआ गन्ने का रस इस ढंग से लेना चाहिए कि जिस से रस के साथ लार भी पेट में बहुत-सी जाए। ऐसा करने से दांत से चबाकर चूमे हुए गन्ने के रस के समान वह भी लाभदायक सिद्ध होगा। लेकिन लार की कमी से उसे पचाना कठिन है। वह श्वेतकर्फ और जलदोष पैदा करता है। वह सारक भी है।

४४. शक्कर—

शक्कर शरीर के लिए फायदे की है। मेदरोग, आम्लोत्पत्ति, मधुमेह, जलदोष या लंघनीय दोष से पीड़ित रोगियों के अतिरिक्त अन्य रोगी तथा स्वस्थ मनुष्य भी प्रति दिन थोड़ी थोड़ी खा सकते हैं। यह मेदा बढ़ाती है।

४५. गुड़ राव—

रस से राव और गुड़ तैयार करते समय उसमें जली लकड़ी की राख मिलते हैं जिससे उनमें दोष उत्पन्न होते हैं। गन्ने के रस में आयोडिन होता है, वह इनमें भी रहता है। दस्त पैदा करना, बहुमूत्र पैदा करना, जलदोष विशेषतः खुजली उत्पन्न करना आदि इनके दोष हैं। इन दोषों को छोड़कर वे पोषक धर्म में शक्कर की ही भांति है। इसलिए यदि इन्हें खाने में लाना है, तो थोड़ा ही किसी पदार्थ में मिलाकर और वह भी एकाध बार लाना चाहिए। चने की दाल में गुड़ (या शक्कर) मिलाकर और उसे पकाकर जो “पूरण” नामक महाराष्ट्रीयन पक्वान्न बनाया जाता है वह विशेष दोष कारक नहीं होता।

टिप्पणी:—इससे पेटदर्द, उलटी, मुंह में खट्टा स्वाद आदि चिन्ह होते हैं।

४६. मद्य

मद्य शरीर के लिए किसी भी रूप में पोषक नहीं है। वह सौम्यकफ और जलदोष उत्पन्न करता है और मेदोरोग प्रायः पैदा करता है। उत्तेजना के लिए मद्यपान करना सरासर नादानो है। मदिरा भूख बढ़ाकर ताकत बढ़ाती है ऐसा भ्रम से मानकर उसे प्रतिदिन अल्प मात्रा में लेना भी बड़ी भारी भूल है। क्योंकि वह विपरीत चिकित्सा है। मदिरा चूंकि किसी भी रूप में हितकर नहीं है, सर्वथा त्याज्य है।

४७. चाय

चाय एक पौधे की पत्ती है, उसपर कुछ संस्कार करके वह बाजार में बेची जाती है। उसका काढ़ा बनाकर और उसमें दूध-शक्कर मिलाकर वह गरमा-गरम ग्रहण की जाती है। उससे मदिरा की भांति इंद्रियां प्रथमतः उत्तेजित होती हैं लेकिन बाद में शीघ्र ही पीनेवाले को थकान मालूम पड़ती है। हमेशा चाय पीनेवाले को जलदोष विकार होता है, भूख मंद होती है, अन्न का खून बनता नहीं और इस प्रकार उससे शरीर कमजोर होता जाता है: कई लोगों का मेदा भी बढ़ता है और चाय से फायदा हुआ ऐसा भासित होता है। लेकिन चाय से फायदा तो कुछ नहीं, नुकसान ही है।

४८. चावल

चावल पानी में पका कर भात के रूप में लेने से शरीर को फायदा होता है। चावल की माँड़ को निकाल फेकने की कहीं कहीं जो प्रथा है, वह सरासर गलत है। क्योंकि माँड़ में चाँवल का ओज्ज्वल-द्रव्य और क्षार होता है। यह माँड़ पतले दस्त के बीमार को बड़ी लाभकारी होती है। अन्य रोगियों को भी एक हलके पोषक अन्न के रूप में दे सकते हैं। ऐसे कामों के लिए ही चावल की माँड़ निकाली जाय, अन्य अवसरों पर कदापि नहीं। माँड़ के साथ पका हुआ चावल मेदा बढ़ाता है और कुछ मांस भी बढ़ाता है। चावल में मासवर्धक गुण

बहुत कम होने के कारण उसके साथ कोई थोड़ी बहुत दाल भी खाना चाहिए। अकेला भात कुछ मउस्तम्भक और मूत्रकारक है। तथापि स्वस्थ मनुष्य अपने भोजन में उसे प्रतिदिन ले सकता है। मेदोरोग, आम्लोत्पत्ति और मधुमेह के बीमारों को छोड़कर दूसरे किसी भी बीमार को हजम हो सके उतना चावल रोज खाने को दे सकते हैं। खाने के लिए हमेशा एक सालसे ज्यादा पुराना चावल काम में लाना चाहिए। नए चावल से मधुरकफ विकार होता है। बहुत पुराने चावल से कस निकल जाता है। इसलिए बहुत पुराना चावल भी नहीं खाना चाहिए।

४९. गेहूं-रोटी

गेहूं भी दूध के समान लगभग पूर्ण अन्न है। केवल इसी पर कई दिनों तक स्वस्थ रह सकते हैं। गेहूं यह मांसवर्धक एवं मेदोवर्धक भी है। इससे बना हुआ मांस बहुत जोरदार और ठोस होता है। तथापि यह पाचन के लिए जड़ है और रंजकपित्त तथा जलदोष उत्पन्न करता है। इसके साथ ठंढा जल पर्याप्त पीने से उसके उपर्युक्त दोष नष्ट हो जाते हैं। इसलिए स्वस्थ मनुष्य इसे प्रति दिन खा सकता है। परंतु यह जड़ और सारक होने के कारण आंव या अन्य प्रकार के दस्त के रोगियों को, या रंजकपित्त या जलदोष के बीमारों को खाने नहीं देना चाहिए।

गेहूं का पीस कर जो आटा बनाया जाता है, उसमें से चोकर नहीं निकालना चाहिए। चोकर मिले आटे की सादी रोटी या परतदार पूड़ी आने पराठा रोज खाने को हरकत नहीं। उस आटे की लपसा या खीर (घी में न भूँज कर बनाई हुई) हितकर है। दलिया अल्प प्रमाण में खा सकते हैं। हलुआ, लड्डू, गुजिया आदि घी में भूँजने या तलने के कारण और आटे की चोकर उन में मिली हुई न होने के कारण वे वस्तुएँ अहितकर हो गई हैं। गेहूं के साथ दूध लेना बहुत ही हितकर है। उसके साथ घी-शक्कर और दाल खाने में भी हर्ज नहीं।

५०. सिंघाड़े

सूखे सिंघाड़े गोहूँ से भी ज्यादा पौष्टिक होते हैं। लेकिन वे मलबद्धता और मधुर कफ उत्पन्न करने हैं। गोहूँ आंव के दस्त या मामूली दस्त, दाह, रंजकपित्त और जलदोष उत्पन्न करता है। इस लिए कुछ रोगियों के अन्न में गोहूँ के बदले सिंघाड़ा अन्तर्गत कर सकते हैं। लेकिन ऐसे अन्नसर पर सेवन करनेवाले को सिंघाड़े की दोषवाधा न हो इस लिए पानी कम पीने के रूप में सावधानी रखनी पड़ती है। पौष्टिकता और स्वाद बढ़ाने के लिए सिंघाड़े में थोड़ा दूध और घी मिलाना चाहिए। सिंघाड़े का आटा पानी में सान कर उसकी रोटियां भी बनाते हैं और दूध या पानी मिलाकर लपसी भी बनाते हैं।

५१. साबूदाना, आरारोट—

ये केवल पिष्टल पदार्थ हैं, पाचन के लिए हलके और कोई भी दोष उत्पन्न नहीं करते। इन्हें दूध के साथ पकाकर, पिष्टल और मिष्ट पदार्थ को पचा सकनेवाले बीमार लोग खा सकते हैं; उससे उनकी शक्ति चढ़ती है।

५२. राजगीरा—

इसकी लाई बहुत हलकी और पौष्टिक होती है। इस में शक्कर मिलाकर यह बीमार को खाने दे सकते हैं। कच्चा राजगीरा पानी में पका कर और उसमें दूध शक्कर मिलाकर खा सकते हैं। यह लाई की अपेक्षा अधिक पौष्टिक, तृप्तिकारक, स्वादिष्ट लेकिन थोड़ा जड़ होता है। इससे मधुर कफ होता है तथापि स्वस्थ मनुष्य इसे खा सकते हैं।

५३. धान की लाई—

यह पचने में बहुत हलकी होती है। जिसे बहुत कड़े लंघन पर रखना हो, उसे भी लाई दे सकते हैं। लेकिन मेदोरोग, मधुमेह और आम्लोत्पत्ति पर यह लाभकारी नहीं है। उलटी, दस्त, (सादे या आंव के)

ज्वर, खांसी-इन रोगों में लाई दे सकते हैं। यह कोई भी दोष उत्पन्न नहीं करती। दूध-शक्कर में लाई मिलाने से वह बहुत स्वादिष्ट, अत्यन्त हलकी और विकाररहित पौष्टिक अन्न का रूप धारण कर लेती है। यह मानों देवताओं के घर का अमृत ही है।

५४ पोहा—

यह बहुत ही जड़ और आंव उत्पन्न करनेवाला है; इसे खाने के काम में न लाना ही अच्छा है।

५४. मुरमुरा—

यह पोहे-जैसा खराब तो नहीं, परंतु धान की लाई जैसा लाभप्रद भी नहीं है। स्वस्थ मनुष्य इसे अल्प प्रमाण में खा सकता है।

५५. मूँग की दाल—

कोई भी दाल ओजवर्धक अर्थात् मांसवर्धक होती है। मूँग की दाल में भी यही गुण है। इसके अलावा यह बहुत ही हलकी और कोई भी दोष पैदा करती नहीं है। इसलिए सभी दालों में यही सर्व श्रेष्ठ मानी गई है। लेकिन इससे बना हुआ मांस गेहूं उड़द, या अण्डे से बने हुए मांस जैसा मजबूत नहीं होता। मूँग की दाल छिलके सहित काम में लाना चाहिए।

यह दाल भोजन में रोज खा सकते हैं दो हिस्सा चावल और एक हिस्सा मूँग की दाल लेकर पकाई हुई खिचड़ी घी के साथ खाया खाना बहुत ही लाभदायक है। वह हलकी, स्वादिष्ट एवं पौष्टिक होती है और विकार नहीं करती। मूँग की दाल का पानी गाय के दूध-जैसा पौष्टिक और उस की अपेक्षा हलका भी होता है। छिलके सहित दाल पकाना चाहिए। पकने पर उसे घोट लेना चाहिए और उसमें पानी डाल कर दूध के समान पतली बना लेना चाहिए। पुनः उसे उबाल लेना चाहिए। थोड़ी देर बाद उसके ऊपर का पानी अलग करके उसमें यथारुचि घी और शक्कर या नमक मिलाकर मरीज को देना

चाहिए। जिन्हें दूध भी हजम नहीं होता या ऐसे कई बच्चों को हमने इसी मूँग की दाल के पानी पर जिलाया है। चाहे तो इस पानी को घी और जीरे का बघार दे सकते हैं।

५६. तुवर की दाल—

तुवर की दाल पचन के लिए जड़ है और जलदोष, मधुरकफ, सौम्यकफ एवं श्वेतकफ उत्पन्न करनेवाली है। पूर्वपरम्परागत आदत के कारण बहुत से लोग इसे खाते हैं और पचा लेते हैं। लेकिन बीमार को यह दाल खाने नहीं देना चाहिए।

किसी भी पकी हुई दाल में पर्याप्त पानी मिलाए बगैर उसे नहीं खाना चाहिए। इसी प्रकार केवल दाढ़ भी नहीं खाना चाहिए। उसके साथ बहुत-सा चावल या शक्कर मिला कर खाना चाहिए। जिनके पेशाब में श्वेतकल्क या मूत्राभ्र पाया जाता है या जो खुड़रोग से ग्रस्त हैं, उन्हें कोई भी दाल नहीं खाना चाहिए। मूँग की दाल उक्त रोगी कदाचित् ले सकते हैं लेकिन अल्प प्रमाण में।

५७ उड़द की दाल—

यह दाल जो हजम करेगा, उसका मांस मजबूत रहेगा और उसका वीर्य-बल बढ़ेगा। कोई लोग उड़द की दाढ़ बनाकर खाते हैं। मूँग की दाल की जैसी (छिलके सहित) उड़द की भी खिचड़ी खाना चाहिए। उड़द के पापड़ भी खा सकते हैं।

५८. चने की दाल—

यह भी पचने के लिए भारी है। भूँजे हुए चने और धान की लाई मिलाकर उसे स्वस्थ एवं सशक्त मनुष्य खा सकता है। भूँजे हुए चने के आटे को भी घी-शक्कर के साथ वह खा सकता है। इसकी मीठी रोटी पहिले शक्कर के साथ चने की दाल को पानी में पकाते हैं, फिर उसे पोसते हैं और गेहूं के आटे में उसे भर भर कर तवे पर सेंकते हैं। जो महाराष्ट्र में “पूरण पोली” के

नाम से प्रसिद्ध है, बड़ी पौष्टिक और तृप्तिकर होती है। प्रीति-भोज में प्रायः इसी पक्वान्न का प्राधान्य रहता है। इसे अल्प प्रमाण में बहुत घा के साथ खाने से कोई हानि नहीं होती और न कोई दोष पैदा होता है। कोई पहलवान यदि चने की दाल भिगाकर खाता है, तो वह मांस-भक्षण के समान ही पौष्टिक सिद्ध होगी। उसके साथ घा शक्कर भी खाना चाहिए जिससे और भी फायदा होता है। यह ध्यान में रखें कि बिना छिलके की दाल की अपेक्षा भिगाए हुए चने ही यदि खाने में आए, तो और भी अच्छा है।

५९. मटर—

इस के गुणधर्म लगभग चने जैसे हैं। चने के समान इस का भी उपयोग करना चाहिए।

६०. ज्वार, बाजरा आदि—

ये धान्य लगभग गेहूँ जैसे हैं। पचने के लिए गेहूँ से भी ज्यादा हलके हैं। लेकिन पोषक गुणों की इन में कमी है। परम्परा से जिनके पूर्वज ये अन्न खाते चले आए हैं, वे खा सकते हैं। ज्वार जल-दोष कारक है, सौम्यकफ होने की भी सम्भावना है। बाजरा भी जल-दोष और सौम्यकफ पैदा करता है।

मनुष्य को गेहूँ खाना चाहिए या ज्वार या बाजरा? इस सम्बन्ध में सामान्य नियम यही है कि हम परम्परा का यथासम्भव उत्लंघन न करें। जो बापदादाओं के समय से खाद्य रहा है, वही हमारे लिए हितकारी है। प्रत्यक्ष अनुभव से किसी कारणवश जब तक वह खाद्य हानि-कारक प्रमाणित नहीं होता, तब तक उसे नहीं त्यागना चाहिए।

६१. जव—

यह गेहूँ के समान ही शरीर को मजबूत बनाता है। लेकिन उस में यवक्षार नामक एक क्षार बहुत अधिक प्रमाण में होने के कारण वह

ज्यादा सारक होता है और ज्यादा गरिष्ठ भी हो सकता है। मधुमेह, बहुमूत्र, और मेदोरोग से पीड़ित व्यक्तियों को इसके सेवन से फायदा होता है, ऐसा आयुर्वेद का कहना है। लोकमान्य तिलक मधुमेह से पीड़ित थे। वे जव की पूरी खाते थे और उससे उनको फायदा भी हुआ कहने हैं। जहाँ बापदादाओं के समय से ही इसका सेवन हो रहा हो, उस कुटुम्ब के लोग इसकी रोटी रोजाना भी खा सकते हैं। जव को हजम करने के लिए ठण्डा जल काफी पीना चाहिए।

६२. सत्तू—

गेहूँ या जव और चने की दाल भूँजकर और उन्हें एक साथ पीसकर जो आटा बनाया जाता है, वही सत्तू है। यह बहुत ही गरिष्ठ होता है। यह जल दोष कारक है। इस में शक्कर-पानी मिला कर और दूध जैसा पतला बनाकर हो इसे घूँट-घूँट पीना चाहिए। सत्तू को हमेशा नहीं खाना चाहिए और ज्यादा नहीं खाना चाहिए। बीमार को तो बिलकुल ही नहीं खाना चाहिए।

६३. अंडे—(मूर्गी, बतख आदि के)—

अंडे दूध से भी ज्यादा पोषक और पचने में ज्यादा हलके हैं। जिसकी ताकत बहुत जल्दी बढ़ाना है, उसे अंडे ही देना अतीव हित कर होगा। अंडे को फोड़ कर उसके सफेद और पीले हिस्सों को बोतल में भर लेना चाहिए और फिर बोतल बंद कर के खूब हिलाना चाहिए जिससे सफेद-पीले दोनों हिस्से एक रूप हो जायें। फिर गरम किए हुए ठण्डे दूध में उसे घोल कर उसमें थोड़ा शक्कर मिलाना चाहिए। पुनश्च उसे बोतल में भर कर बोतल को खूब हिलाना चाहिए। इससे सभी चीजें एक रूप हो जायेंगी। यदि इच्छा हो, तो उस में अस्थि सुधा की एक मात्रा भी १२ या ३० या २०० मर्दन की मिला सकते हैं। तत्पश्चात् उसे दूध की भाँति घूँट-घूँट पीना चाहिए और पी लेने पर बोतल प्याला, आदि को स्वच्छ धोकर दूसरे दिन के लिए

यथास्थान रख देना चाहिए। सुबह शौचमुखमार्जन के उपरान्त यदि भूख अच्छी मालूम पड़ती है, तो उपर्युक्त पद्धति से एक या दो अंडे लेना चाहिए। पकाए हुए अंडे नहीं खाना चाहिए। वे बहुत ही गरिष्ठ होते हैं। सड़े हुए अंडे नहीं खाना चाहिए। अच्छे अंडों में सड़ी बास नहीं आती और उसका सफेद हिस्सा स्वच्छ और पानी-सा पारदर्शक होता है। ताकत के लिए उपर्युक्त पद्धति से अंडे दिए जा सकते हैं। ग्रीष्म में उसका सफेद अंश ही ग्रहण करना चाहिए, पीला नहीं। ज्वर, दस्त या इसी प्रकार की बीमारों में कड़ा लेंघन इष्ट होकर भी रोगी की ताकत को बनाए रखने के लिए अंडे का केवल सफेद अंश शक्कर-पानी मिला कर उसे दे सकते हैं। इस मिश्रण को “ओजस्वी जल” कहते हैं। इस से ज्वर या दस्त बढ़ने नहीं और रोगी की ताकत कायम रहती है।

नीरोगी मनुष्य उपर्युक्त पद्धति से प्रति दिन अंडा ले सकता है। लेकिन जिन के पेशाब में श्वेतकल्क या मूत्राग्ल है, उन्हें अंडा, मांस, दाल नहीं खाना चाहिए। अंडे का सफेद हिस्सा मधुर कफ या सौम्य कफ के अतिरिक्त अन्य कोई भी दोष पैदा नहीं करता।

६४. मांस—

मांस सभी पदार्थों में सर्वाधिक पौष्टिक है। लेकिन उतना ही वह विकारी भी है। मांस के सेवन से रंजक-पित्त के विकार बहुत तेजी से बढ़ते हैं और सौम्य कफ के भी। मांस-भक्षण से होनेवाले रंजक पित्त के विकारों में संधि-दाह यह प्रमुख रोग है। इस रोग की यदि योग्य चिकित्सा नहीं हुई, तो यह रोग हृदय में प्रवेश कर के उसे विकृत कर देता है।

मांस ज्यादा खाने और श्रम कम करने से खुड़ रोग भी होता है। इस लिए मांस हमेशा कम खाना चाहिए। पालतू पशुओं का मांस रोग कारक होता है अतः वह नहीं खाना चाहिए। केवल बकरे या बकरी

का खा सकते हैं। जंगलो प्राणियों का ताजा मांस खाना चाहिए। हम उसे रोज भी खा सकते हैं। स्वयंमृत, व्याधिग्रस्त, कृश, मेदा से फूला हुआ या वृद्ध प्राणी का मांस नहीं खाना चाहिए। पानी में पका हुआ मांस ही खाना चाहिए।

६५. लौकी—

यह पौष्टिक नहीं है तथापि कोई विकार पैदा नहीं करती। दस्त के रोगी को छोड़ कर और किसी भी रोगी को प्रति दिन खाने दे सकते हैं।

६६. चाकोत (चन्दन बथुआ)

यह पौष्टिक है, लेकिन जलदोषकारक है। स्वस्थ मनुष्य इसे खा सकता है।

६७. भिंडी—

यह पौष्टिक, हलकी और स्वादिष्ट होती है। यह कोई विकार नहीं करती। बीमार इसे रोज खा सकता है। यह दस्त की बीमारी में नहीं खाना चाहिए।

६८. चचंडा—

यह पौष्टिक है लेकिन विकारी नहीं। बीमार भी इसे खा सकता है लेकिन दस्त की बीमारी में नहीं।

६९. करेले, बैंगन, मूली, मेथी—

करेले कड़ू हैं। इस लिए जलदोष और घातक वात पैदा करते हैं। बैंगन और मूली भी उन्हीं दोषों को पैदा करती हैं। इन तीनों में बैंगन अच्छे लेकिन खुजली का रोगी इसे कदापि न खाए। मेथी की भाजी करेले जैसी दोषकारक है।

७०. टमाटर---

ये लगभग बैंगन जैसे हैं। इन में जीवद-द्रव्य ज्यादा होकर भी ये जल दोषकारक हैं।

७१. सफेद चौलाई की फली या बरबटी, सेमी---

ये दोनों पौष्टिक और हितकर हैं। इनकी पौष्टिकता मूंग की दाल जैसी है। ये कोई भी विकार नहीं करतीं तथापि सेमी अस्थिसुषा का थोड़ा बहुत दोष उत्पन्न करती है।

७२. चौलाई की भाजी----

यह पौष्टिक है और कोई विकार नहीं करती। मेथी की भाजी के समान इसे भी सूखी पका कर रोज खा सकते हैं।

७३. कुंदुरू----

पौष्टिक हैं लेकिन कुछ गरिष्ठ हैं। श्वेतकफकारक हो सकते हैं। इसे रोज खा सकते हैं क्योंकि इसका खट्टापन बहुत सौम्य रहता है।

७४. परवल----

पौष्टिक और स्वादिष्ट है। कोई विकार नहीं करते।

७५. तुरई---

यह भी स्वादिष्ट है और कोई विकार न करने वाली है। किसी का कहना है कि यह आंव और दस्त पैदा करती है। स्वस्थ मनुष्य और जो दस्त के रोगी नहीं, वे इसे खा सकते हैं।

७६. लाल कुंभड़ा (कद्दू----)

यह पौष्टिक और स्वादिष्ट है लेकिन जलदोष और मधुर कफ पैदा

करता है। ये दोष कच्चे कुंभड़े में ज्यादा प्रमाण में रहने हैं और एके में बहुत कम।

७७. प्याज—

पौष्टिक हैं लेकिन जलदोष और मधुर कफ पैदा करते हैं। जिनका यह परम्परागत खाद्य है या जो कड़ा परिश्रम करते हैं, वे रोज खा सकते हैं। बीमार को यह नहीं खाना चाहिए।

७८. ठेंड़स—

यह कोई भी विकार न करनेवाली पौष्टिक साग है।

७९. कचरिया (फूट)—

यह कुछ जलदोषकारक हो सकती है। स्वस्थ या बीमार भी इसे एकाध बार खा सकता है।

८०. खरबूज ८१. तरबूज—

खरबूज जलदोषकारक है और तरबूज मधुरकफकारक भी है।

८२. ककड़ी—

ककड़ी जलदोषकारक है। स्वस्थ मनुष्य इसे एकाध बार खा सकता है।

८३. घोल की भाजी—

यह जलदोषकारक है, स्वस्थ मनुष्य इसे एकाध बार खा सकता है।

८४. अम्बाड़ी की भाजी—

खट्वापन इसका दोष है। स्वस्थ मनुष्य इसे एकाध बार खा सकता है। बीमार इसे कभी न खाए।

८५. कोबी (गोभी), गाजर---

फूल गोभी, पत्ता गोभी, और गांठ गोभी इन सबका गुणधर्म एक-सा है। इनमें पौष्टिकता तो बिलकुल नहीं है। यह सब्जी जलदोष, सौम्यरूप और घातकवात पैदा करती है। गाजर के भी लगभग ये ही गुणधर्म हैं।

८६. आलू---

पाचन में गरिष्ठ है। वस्तुतः इसे साग में सम्मिलित नहीं करना चाहिए। यह एक अन्न है। यह जलदोषकारक है। जो इसे पचा सकने हैं, वे अन्न समझ कर खा सकते हैं।

८७. शकरकंद---

यह भी अन्न है। इसकी पौष्टिकता चावल के समान है। यह पचन के लिए हलका है। इसे दूध शकर के साथ खाना चाहिए।

८७. (अ) हेटी के फूल (अगस्ती के फूल)

ये पौष्टिक हैं, हलके हैं कोई विकार नहीं करते ॥

८७. (ब) मूनगा---

ये जलदोष और घातकवात पैदा करता है। इसे न खाना ही अच्छा है।

८८. पालक की भाजी---

यह कदाचित् जलदोष पैदा करती है। स्वस्थ मनुष्य और जिनको दांत नहीं लगे हैं वे यह भाजी खा सकते हैं।

८९. हरा धनिया, मीठा जीरा, धनिया, मीठा नीम, इलदी, नमक---

उपर्युक्त चीजों के अतिरिक्त अन्य कोई भी मसाले का पदार्थ साग

में डालना अहितकर है। जिन्हें आदत पड़ गई हैं, वे अल्प प्रमाण में मोर्च और हींग साग में डाल सकते हैं। बीमार को मोर्च नहीं खाना चाहिए। उससे जलदोष, रंजकपित्त, और श्वेतकफ के विकार होते हैं। लहसून से बहुत जोर का जलदोष उत्पन्न होता है। उसे न खाना ही अच्छा है।

९०. फल--

प्रायः सभी फल मधुरकफ दोषकारक हैं। सूखे फलों की अपेक्षा गोले फलों में यह विकार विशेष रूप से पाया जाता है। फल के साथ पानी नहीं पीना चाहिए तभी वे पाचन में हलके होते हैं।

९१. केला--

यह पौष्टिक, स्वादिष्ट और तृप्तिकारक है। यह मलस्तंभक और मधुर कफ कारक भी है। इससे किञ्चित् जलदोष का भी विकार होता है। तथापि स्वस्थ मनुष्य इसे खा सकता है। इसमें ओजस् कम होता है अतः इसे दूध के साथ खाना ज्यादा अच्छा है। स्वाद के लिए उसमें शक्कर भी मिला सकते हैं। इसप्रकार दूध-केला-शक्कर के मिश्रण से बना हुआ पदार्थ उत्तम खाद्य है जिसे महाराष्ट्र में “कालवण” कहते हैं।

९२. सीताफल और रामफल के गुणधर्म केले के जैसेही हैं।

९३. कटहल---

इसके भी गुणधर्म केले के जैसे हैं। तथापि यह गरिष्ठ है। इसे खाने पर भूख जल्दी लगती नहीं। अत्यधिक गरिष्ठ होने के कारण इसे किसी अन्य खाद्य के साथ नहीं खाना चाहिए।

९४. बीही—

यह गरिष्ठ और बहुत जोर का जलदोष पैदा करने वाला है। इस पर पानी तो बिल्कुल नहीं पीना चाहिए। पुनः जब भूख लगे तब कुछ खाकर ही पानी पीना चाहिए।

९५. बेर----

इसके अनेक प्रकार हैं। लेकिन सब के सब बीही के जैने हैं। ये जितने ज्यादा खड़े, उतने ही विकारी होते हैं।

९६. अंजीर (गीला या सूखा)----

यह पौष्टिक, स्वादिष्ट और तृप्तिकारक होता है। खाने में बहुत बढ़िया है।

९७. अंगूर, शहतूत----

मीठे अंगूर रंजक पित्त के रोगी के लिए हित कर हैं सारक हैं। इससे मधुरकफ का विकार होता ही है। स्वस्थ मनुष्य रोज खा सकता है। शहतूत अंगूर जैसा गुणकारी है और बहुत ही स्वादिष्ट है। बिना बीज के अंगूर जलदोष कारक भी होते हैं।

९८. अनार----

मोठा अनार जलदोष के रोगी के लिए हितकर है। रोज खाने में बाधा नहीं।

९९. पेंडूखजूर----

यह पौष्टिक है। लेकिन बहुत जोर का जलदोष पैदा करता है। इसके साथ पानी पीना हितकर है।

१००. खारिक----

यह पौष्टिक और हितकर है। रोज खा सकते हैं। कोई खारिक को दूध में पकाकर खाते हैं। यह पक्वान्न कुछ सारक होता है।

१०१. बादाम-पिस्ता-अक्रोड़--

बादाम पौष्टिक लेकिन गरिष्ठ है। यह मांस वर्धक भी है। इसके साथ शक्कर या मिसरी खाना चाहिए और उस पर चाहे तो दूध पी

सकते हैं। कोई भीगी हुई बादाम को पीस कर टंडाई के रूपमें पीते हैं। लेकिन यह ठीक नहीं। क्योंकि इससे मलस्तंभ होता है। पिस्ता बादाम के जैसा, लेकिन हलका है। अकोड़ पिस्ते के जैसा, लेकिन जलदोष कारक हो सकता है।

१०२. चिरौंजी-किसमिस-जरदालू-

चिरौंजी पौष्टिक है। लेकिन इससे बहुत जोर का जलदोष होता है। खीर या किसी पक्वान्न में इसका उपयोग थोड़ा बहुत कर सकने हैं। किसमिस चिरौंजी जैसी है। जरदालू का ऊपरी हिस्सा किसमिस जैसा और भीतर का बादाम जैसा होता है।

१०३. नारीयल---

यह सारक और जलदोषकारक है। किसी पदार्थ में इसे थोड़ा मिलाकर खाने में कोई हर्ज नहीं।

१०४. आम---

यह पौष्टिक और स्वादिष्ट है। लेकिन यह जलदोष, रंजकपित्त, और आंव के दस्त पैदा करता है। पके आम में ये दोष बहुत कम रहते हैं। यह गरिष्ठ भी होता है। लेकिन चूसकर खाने से पाचन में हलका होता है। इसका रस गरिष्ठ होता है। आम के साथ दूध पीने से आम के दोष बहुत कुछ कम हो जाते हैं। आम के समान मुरब्बा भी दोषकारक है। कच्चे आम को चीर कर पानी में पकाना चाहिए और उसका जो खट्टा पानी होगा, उसे फेंक कर फिर मुरब्बा बनाना चाहिए। इससे उसकी सदोषता बहुत कुछ घट जाती है। स्वस्थ मनुष्य उसे एकाध बार खा सकता है।

१०५. करौंदा---

आम के समान करौंदा का भी मुरब्बा बनता है।

१०६. मूँगफली---

इसके घटक बादाम के जैसे हैं तथापि यह बहुत गरिष्ठ है। इसके सेवन से मधुर कफ, तिक्तपित्त, जलदोष, श्वेतकफ बहुत जोर से प्रकट होते हैं। स्वस्थ मनुष्य भी इसे बहुत कम खाएँ।

१०७. अब रोग उत्पन्न न होने के लिए कैसा आचरण रखना चाहिए. यह बतलाया जाता है---

(१) किसी भी इंद्रिय से ज्यादा काम नहीं लेना चाहिए। थकने के पहले ही उस इंद्रिय से काम लेना बंद कर देना चाहिए।

(२) भोजन के बाद तुरन्त कोई कष्ट नहीं उठाना चाहिए या मेहनत का काम करके तुरन्त भोजन नहीं करना चाहिए।

(३) भूख लगने पर ही हितकर मिताहार करना चाहिए।

(४) शरीर के मल-मूत्रादि को बलपूर्वक निकालने की कोशिश नहीं करना चाहिए और उसे रोकने की भी चेष्टा नहीं करना चाहिए।

(५) कभी भी मलीन (भीतर-बाहर) नहीं रहना चाहिए।

(६) सुखदायक उष्णता जहां हो, ऐसे निर्वात स्थान में सुखद जल से स्नान करना चाहिए।

(७) भोजन के बाद स्नान नहीं करना चाहिए। मेहनत से शरीर गरम होने पर तुरन्त स्नान नहीं करना चाहिए।

(८) रोज नहाना चाहिए। ठंड ज्यादा रहने पर ठंड में या बरसात में हमेशा नहीं नहाना चाहिए।

(९) धन-धान्य-सम्पन्न मनुष्य को भी आलस्य में समय नहीं बिताना चाहिए-किसीभी सदुद्योग में उसे झुट जाना चाहिए।

(१०) ताकत के बाहर का कोई भी काम अपने जिम्मे नहीं लेना चाहिए।

११) बहुत ही सूक्ष्म या तेजस्वी पदार्थ की ओर नहीं देखना चाहिए ।

(१२) इंद्रियों के न बिलकुल गुलाम ही बन जाना चाहिए और न उनकी सर्वथा उपेक्षा ही करना चाहिए ।

(१३) परम्परागत व्यवसाय या अन्न को बिना कोई महत्त्वपूर्ण कारण के सहसा नहीं छोड़ना चाहिए । यदि परम्परागत व्यवसाय या अन्न हमारी प्रकृति के सर्वथा विपरीत है या अन्य कोई चीज हमारी प्रकृति के सर्वथा अनुकूल है या परम्परागत व्यवसाय धनोत्पादक न रहा हो ऐसे ही किसी खास कारण पर वंशागत व्यवसाय या अन्न त्यागना चाहिए ।

(१४) मैथुन के बाद नींद के अतिरिक्त और कुछ नहीं करना चाहिए । यदि इच्छा हो, तो शक्कर घोलकर दूध पी लेना चाहिए ।

(१५) दिन में, रात के प्रारम्भ में या अन्त में मैथुन नहीं करना चाहिए । एक रात में एक बार ही संभोग करना चाहिए ।

(१६) रजम्बला (पहिले तीन दिन), गर्भिणी (आखिर के चार महीने), प्रसूतिका (रजम्बला होते तक या बालक का दूध पीना बंद होते तक), स्पर्श-संचारी बीमारी (फिरंगोपदंश या मूत्रमार्गव्रण-विषाक्त) में प्रसूत और पीठ के बल पर न लेटी हुई स्त्री से संभोग नहीं करना चाहिए । सोलह साल से कम आयु की युवती को और इक्कीस सालसे कम युवक को मैथुन नहीं करना चाहिए ।

(१७) मैथुन में परिमितता लाने के लिए स्त्री के साथ एक शय्या पर सोना छोड़ देना चाहिए और उसमें यदि हम सफल नहीं होते हैं तो एक ही कमरे में सोना छोड़ देना चाहिए ।

(१८) भोजन में परिमितता लाने के लिए मधुर और कुछ नमकीन रस को छोड़ कर अन्य सभी रसों का त्याग कर देना चाहिए या कभी एकाध अवसर पर अन्य रसों का सेवन करना हो तो अत्यन्त सौम्य प्रमाण में उनका सेवन करना चाहिए ।

(१९) किसी भी स्थिति में रहने हुए तद्विपरीत स्थिति का एकाएक आश्रय नहीं लेना चाहिए। जैसे धूप में तप कर हमें न एकाएक ठंडा जल पीना चाहिए और न स्नान करना चाहिए।

(२०) शोक, चिन्ता, वैर आदि मानसिक विकारों का त्याग करना चाहिए और सबके साथ प्रेम से रहना चाहिए।

(२१) पानी न ज्यादा पीना चाहिए और न कम। बहुत ही ठंडा जल नहीं पीना चाहिए।

(२२) बीमार पड़ने पर विपरीत र्थकारी औषधि ही ग्रहण करनी चाहिए। यदि वह औषधि देने वाला वैद्य नहीं मिलता हो तो कोई भी औषधि न लेकर पथ्यावलम्बन करना चाहिए और निसर्ग को ही रोगोन्मूलन का कार्य करने देना चाहिए। घातक औषधि-सेवन की अपेक्षा, औषधि न खाना ही कई गुना लाभप्रद है, यह हम कदापि न भूलें। घातक औषधि-जन्य रोग कभी कभी जीवनान्त तक भुगतना पड़ता है।

१०८. अब ऋतुचर्या पर विचार किया जाता है—

३६५ दिन १४ घटिका और ३२ पल का समय मिल कर एक आर्तव (ऋतु से उत्पन्न) अर्थात् ऋतु-उत्पादक वर्ष होता है। जिस समय दिन बहुत छोटा और रात बहुत बड़ी होती है, उस समय से क्रमशः शिशिर, वसंत, ग्रीष्म, वर्षा, शरद और हेमन्त-ये षड् ऋतु एक आर्तव वर्ष में होते हैं।

शिशिर और हेमन्त

इन ऋतुओं में उष्ण गृह में रहना चाहिए और गरम कपड़े पहिनना चाहिए। स्नेह अधिक खाना चाहिए और व्यायाम स्वरूप करना चाहिए। बहुत ज्यादा ठंडा जल हो तो किंचित उष्णता देकर अर्थात् “न गरम न ठंडा” जल पीना चाहिए।

शरद और वसंत—इन ऋतुओं में धूप से शरीर-रक्षा करना चाहिए। क्योंकि बरसात की और हेमन्त-शिशिर की ठंड की आदत पड़ जाने के कारण शरीर को धूप बिलकुल सहन नहीं होती। वसंत के प्रारम्भ जे भी दिन में कड़ो धूप और रात में ज्यादा ठंड रहती है। इस लिए दिन में धूप से और रात में ठंड से शरीर की रक्षा करना चाहिए। व्यायाम और मैथुन का प्रमाण इन दिनों में कम रखना चाहिए।

ग्रीष्म—स ऋतु में व्यायाम, मैथुन और सूरज की धूप का त्याग करना चाहिए। पिष्टल और मिष्ट अन्न का अधिक प्रमाण में सेवन करना चाहिए। दोपहर को थोड़ा सोना चाहिए, पानी भी थोड़ा पीना चाहिए। लेकिन वह बहुत ही ठंडा नहीं होना चाहिए। रात को जहां हवा से वातावरण की गरमी कम हो जाती है ऐसे स्थान पर अर्थात् आंगन में या जिन्हें आकाश-तले सोना सहन नहीं होता, उन्हें छपरी में सोना चाहिए।

वर्षा—इस ऋतु में यदि घर में नीचे सीढ़ (नमी) है तो ऊपर के मजले में रहना चाहिए। दिन में नहीं सोना चाहिए। ठंड से रक्षा करना चाहिए, पानी में हो सके उतना कम व्यवहार करना चाहिए। अजीर्ण से बचना चाहिए। यदि भूख न रहे तो रात को नहीं खाना चाहिए। पानी यदि ज्यादा ठंडा हो तो उसे किंचित् उष्णता देकर अर्थात् न गरम न ठंडा कर पीना चाहिए। दूध-दही-छाछ-मांस-अंडा और स्नेह का यथासम्भव कम सेवन करना चाहिए।

ऋतुओं के संधिकाल में उस ऋतु का आचरण त्याग कर नए ऋतु के अनुसार अपने आचरणों को धीरे धीरे बदलना चाहिए। एकदम नहीं।

१०९. दिनचर्या

सुबह ब्राह्म मुहुर्त में उठना चाहिए और “मैं स्वयं आनन्द स्वरूप हूँ” ऐसी भावना मन में करते हुए इधर-उधर घूमें ही

टहलना चाहिए। तत्पश्चात् शौच का वेग प्राप्त होता है। अतः शौच से निवृत्त होकर गोमय भस्म (कंड़े की राख) से ही दन्तधावन करना चाहिए।। जनके दांतों में मैल जमता है उनको मुलायम बालों की कूची (तूँलका) का उपयोग करना चाहिए। बबूल की गाली लकड़ी को दांतों से चबा कर उसकी दातून से भी दांत घिस सकते हैं। मुखमार्जन के बाद यदि इच्छा हो और कष्टप्रद न मालूम पड़ता हो तो स्नान करना चाहिए ओर फिर शरीर में कुछ गरमी आते तक व्यायाम करना चाहिए तत्पश्चात् जो महत्वपूर्ण और ज्यादा श्रमदायक कार्य हो, उसे करना चाहिए। बहुत थक जाने के पहिले ही उस काम को बन्द कर याद स्नान न किया हो तो—स्नान कर लेना चाहिए (काम करने से जिनका शरीर गरम होता है। उन्हें तो काम करने के पूर्व ही स्नान कर लेना चाहिए ! स्नानोपरान्त संध्यादिक धार्मिक कृत्य करना चाहिए और तत्पश्चात् अन्न का आदरपूर्वक प्रसन्न चित्त से इष्ट मित्र-बन्धु समेत मितहार करना चाहिए। भोजनोपरांत एक घंटा विश्राम और बाद में जो ज्यादा कठिन नहीं है ऐसा काम दिन की समाप्ति तक करते रहना चाहिए। बादमे यथाशक्ति व्यायाम करना चाहिए [बालक-बूढ़े ओर कमजोर को सब ऋतुओं में और सब व्यक्तियों को ग्रीष्म ऋतु में पैदल भ्रमण के रूप में ही व्यायाम करना चाहिए] तदनन्तर संध्यादिक धार्मिक कृत्य या विश्रांति करने पर यदि सुबह का भोजन हजम हो गया हो तो पुनः पूर्ववत् भोजन करना चाहिए। फिर कुछ देर तक गप-शय करते हुए और निद्रा की इच्छा होने पर, जहां वायु शुद्ध हैं लेकिन सामने से हवा शरीर पर न आती हो, ऐसे स्थान पर शांत चित्त से ईश्वर-स्मरण करते हुए निद्रामुल प्राप्त करना चाहिए।

उपर्युक्त दिनचर्या या ऋतुचर्या परम्परागत चर्या से यदि भिन्न है तो इसे छोड़कर परम्परागत चर्या को ही अपनाना चाहिए—

११०. साध्यासाध्यकष्टसाध्यविचार---

अब साध्य, असाध्य, और कष्ट-साध्य बीमारों पर विचार किया जाता है। यह स्पष्ट ही है कि रोगी साध्य-असाध्य या कष्ट-साध्य है यह जानने और बताने का कार्य वैद्य के लिए महत्व पूर्ण है। तथापि रोगी को औषधि देकर उसका परिणाम देखे बिना वैद्य तत्त्वतः यह बतला नहीं सकता कि रोगी साध्य है, असाध्य है या कष्ट-साध्य है। (१) दी हुई औषधि यदि अलक्षित रोग-वृद्धि से फायदा दिख जाती है, तो रोगी सुख-साध्य है, यह निश्चित हो जाता है। (२) औषधि से लक्षणीय रोग-वृद्धि होकर तुरन्त फायदा दिखाई दिया, तो रोगी को साध्य समझना चाहिए। (३) औषधिकृत रोग-वृद्धि काफी दिनों तक रह कर बाद में फायदा दिखाई दिया, तो रोगी को कष्ट-साध्य समझना चाहिए। (४) औषधि-कृत रोग वृद्धि कम होती नहीं और कम होती भी है, तो भी फायदा होता नहीं या थोड़े समय तक फायदा दिखाई देने पर भी कारण के बिना ही रोग फिर से बढ़ता है, तो रोगी को असाध्य समझना चाहिए। यह बात वाग्भट के निम्न वचन में कही गई है—*वेज्ञातं बहुशः सिद्धं विधिवत् चावतारितं न सिध्यत्यौषधं यस्य नास्ति तस्य चिकित्सितम् शरीरस्थान अ. ५ श्लोक १२४*) इस प्रकार औषधि देने पर रोगी के पूर्ण रूप से दुरुस्त होने के पूर्व भी उसकी साध्यता या असाध्यता का ज्ञान वैद्य को हो जाता है। लेकिन वैसी औषधि देने के पूर्व भी वैद्य को रोगी की साध्यासाध्यता ज्ञात हो ही जानी चाहिए। एतदर्थ रोगों की विभिन्न अवस्थाओं का निम्नोल्लेख किया गया है। (१) रोग की पहिली अवस्था में रोगी की शारीरिक-क्रिया विकृत हो जाती है और शरीर उस विकृति से उत्पन्न मैल को, प्राणों के लिए आवश्यक न हो और नाजुक न हो, ऐसे किसी अंग के रास्ते से बाहर फेंकता है—जैसे सरदी, मामूली खाँसी, खुजली। (२) रोग की दूसरी अवस्था में शरीर की संघटना में अन्तर पड़ जाता है अर्थात् रोग से उत्पन्न मैल को शरीरबाहर फेंक नहीं पाता और मैल उस स्थान पर इकट्ठा होता जाता है जो (स्थान) प्राणों के लिए आवश्यक नहीं है और नाजुक नहीं है—जैसे खुड़ रोग, गण्डमाला

आदि या वह मैल प्राणों के लिए आवश्यक एवं सुकोमल अंगसे बाहर निकलता रहता है जैसे फुफ्फुसप्रतिश्याय (३) रोग की तीव्र अवस्था में प्राणों के लिए आवश्यक तथा सुकोमल इंद्रिय में वह मैल जमता रहता है (४) चौथी अवस्था में वह इंद्रिय मैल से पूरा भर जाता है जैसे फुफ्फुसराज्यश्या !

उपर्युक्त चारों अवस्थाएँ क्रमशः सुखसाध्य, साध्य, कष्टसाध्य और असाध्य रोगी की हैं। इन अवस्थाओं के आधार पर वैद्य रोगी की साध्यासाध्य अवस्था को पहिचान सकता है। तथापि रोगी किस अवस्था को प्राप्त कर चुका है यह जानने के साथ साथ वैद्य को रोग की तीक्ष्णता जानना भी बहुत जरूरी है। पहिली अवस्था का ही रोग अपनी तीक्ष्णता के अनुसार सुखसाध्य, साध्य, कष्ट-साध्य या असाध्य भी हो सकता है। इसी प्रकार अन्यान्य अवस्थाओं के रोगों को भी समझना चाहिए।

इस सम्बन्ध में रोगी की सहन-शक्ति का भी विचार करना पड़ता है। बड़े आदमी की अपेक्षा छोटे बालक की बीमारी ज्यादा कष्ट-साध्य होती है। वृद्ध मनुष्य बालकों की भांति ही कोमल होते हैं। प्रारम्भ से ही कमजोर मनुष्य की बीमारी बलवान मनुष्य की बीमारी की अपेक्षा अधिक कष्ट-साध्य होती है। गर्भिणी स्त्रियों की भी यही बात है।

पचनेन्द्रिय, शरीर की उष्णता का नियमन करनेवाला मस्तिष्क का भाग, खून, मूत्र पिण्ड, फुफ्फुस, हृदय, और फुफ्फुस एवं हृदय का नियमन करनेवाला मस्तिष्क का भाग—ये शरीर के सुकोमल एवं प्राणों के लिए आवश्यक इंद्रिय हैं तथा उत्तरोत्तर अधिक महत्त्व के इंद्रिय हैं।

कभी कभी रोगी असाध्य न होकर भी रोग असाध्य होता है और इसका कारण है—“प्राणों के लिए आवश्यक न हो और नाजुक न हो, ऐसे शरीरांग में कोई रोग बहुत दिनों का हो जाना या रोग का

आनुवंशिक होना या शरीर-गठना वा वैशिष्ट्य होना" है इसके विषय में परिच्छेद २३ (११) में पहिले ही कहा गया है। ऐसे रोग को याप्य (Stalionary) रोग कहते हैं।

उपर्युक्त नियमों के आधार पर साध्यासाध्य विचार किया जा सकता है। और इनके आधार पर सिद्ध होने वाले तथा जो अन्यान्य वैद्यक शास्त्रों में पाए जाते हैं, वे नियम साध्यासाध्य निर्णय में सरलता लाने की दृष्टि से निम्न प्रकार दिए गए हैं—

(१) जिस रोग के चिन्ह बहुत ही जोर के हैं—

(२) जो रोग बहुत पुराना है—

(३) जिस रोग में रोगी का मांस और खून बिल्कुल ही घट गया है—

(४) जिस रोग में रोगी की भूख और पाचन शक्ति बिल्कुल नष्ट हो गई है—

(५) जिस रोग में धमनी बहुत वेग से उड़ती है (—जिस में चढ़े आदमी की धमनी प्रति मिनट में १४० से ज्यादा उड़ती है) —

(६) जिसमें रोगी की धमनी प्रति मिनट में ३० से भी कम उड़ती है—

(७) जो रोग बहुत वेग से बढ़ता जाता है—

(८) जिस रोग के सभी चिन्ह एक साथ प्रकट होते हैं—

(९) दुर्बल रोगी में कोई नया रोग-चिन्ह उत्पन्न होकर उसका जो पुराना रोग एका एक विलुप्त हो जाता है—

(१०) जिस रोग में श्वासोच्छ्वास का वेग बहुत बढ़ता है—

(११) जिस रोग में उस दोष के मारक चिन्ह प्रकट होते हैं—

(१२) जिस रोग में अंगुष्ठमूल के निकट की धमनी वैद्यके हाथ को झल्लम होती नहीं—

(१३) जिस रोग में आंखें, गाल, और कनपटी सिकुड़ जाती हैं और आंखें निमेषरहित हो जाती हैं—

(१४) जिस रोग में शरीर बिलकुल ठंढा पड़ जाता है—(शरीर की मामूली उष्णता 97° , 98° , फारेनहाइट होती है)

(१५) जिस रोग में पहिले पैरों पर सूजन (रसशोथ) आती है और पाचन शक्ति बिलकुल बिगड़ जाती है—

(१६) एक बार अच्छा होकर भी जो रोग दुबारा अकारण ही प्रकट होता है—

ऐसे रोगों को असाध्य समझना चाहिए। इन चिन्हों के अतिरिक्त रोग-विशेष में दिखाई देनेवाले विशिष्ट असाध्य चिन्ह उस उस रोग के प्रकरण में दिए ही गए हैं। वाग्भट ने शरीर-स्थान अध्याय ५ में बहुत से मृत्यु-चिन्ह बतलाए हैं, वैद्य को उनका भी अध्ययन कर लेना चाहिए।

इत्योम् शान्तिः शान्तिः शान्तिः

शुद्धि-पत्र

प्रथम आवृत्ति की प्रस्तावना

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१	७	औषधाचार	औषधोपचार
२	२८	दत्तरी	दप्तरी
३	२	मेरी	मेरी
३	७	औषधोपधार	औषधोपचार
३	८	जव	जब

उपोद्धात

४	३	इम	इस
४	८	स्वास्थ्य-हान	स्वास्थ्यहीन
४	१९	आपकी	आपकी
५	२६	अनेकता	अनेकता
६	२७	मे	से
७	४	विरण	किरण
७	१९	हम	हमें
८	१७	तात्कालिक	तात्कालिक
१०	११	Unwanted	Unwonted
१२	११	मृत्यु का	मृत्यु का
१५	१५/१६	धान पकाकर	धान जब तथा सुवर का ही केवल कठिन छिलका निकाल कर और उन्हें पकाकर
१५	१८	जीवन-द्रव्य	जीवन-द्रव्य
१६	१४	संका	छोड़कर

पृष्ठ पंक्ति अशुद्ध शुद्ध

रहस्य-वर्णन

१	३	पूर्णतां	पूर्णतां
१	९	पुरुषार्थों	पुरुषार्थों अर्थात्
२	२४	वाली	वाले
३	१३	आदि विपरीत	आदि उपचार विपरीत
३	२६	विपरीतार्थ	विपरीतार्थकारी
५	५	आसलबी	आसल
५	१८	दोना	दोनों
५	१९	होनवाले	होनेवाले
८	४	स्कता ।	सकता
८	८	रोगों का	रोगों के
८	६	(९)	९.
९	१	१.	१०.
९	१४	जसे	जैसे
१०	५	Natrium	Natrum
१०	१६	को क्रिया	की क्रिया
१०	२६	पदार्थ	पदार्थों
१२	१०	(१२)	१२.
१३	१	(१३)	१३.
१३	१३	Kaligodide	Kali-dodide
१३	१५	Mercury	Mercury
१३	१५	सोमल	संख्या
१३	२६	विपरीतार्थकारी	विपरीतार्थकारी
१३	१८	यही	यही
१४	६७	उनमें.....ऐसा	उनमें विशेष विशेष पदार्थ हो सकते हैं ऐसा

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१४	१३	Beuadona	Belladonna
१६	१४	एसा	ऐसा
१७	८	चिकित्सा	चिकित्सा
१७	५	(१५)	१५.
१७	२०	(१६)	१६.
१७	२५	१०५०	१०५ •
२०	५	(१७)	१७.
२०	१७	ओर	और
२१	२	बामारी	बीमारी
२१	६	यान	योन
२१	१७	बामारी	बीमारी
२१	७	तापर्य	तारपर्य
२१	९	(१८)	१८.
२१	११	ता	तो
२१	१८	र	पर
२१	२३	पुस्तक	पुस्तक
२२	८	[१९]	१९.
२२	१६	कवीनीन	कवीनीन से
२२	१७	उससे	उसके
२३	१	(२०)	२०.
२३	६	तो उस	तो
२३	८	हैं	देगा
२३	९	यह प्रकट हों ।	प्रकट हों ।
२४	४	(२१)	२१.
२४	१७	ऐस अनुभव	ऐसा अनुभव
२४	२५	(२२)	२२.

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
२५	८	अलक्षणाय	अलक्षणीय
२६	२	टेनी	देनी
२६	७	टेनी	देनी
२६	११	८ रानें	पुगने
२७	१०	औषध	औषधि
२७	१८	औषधि	औषधि
२८	४	(२३)	२३.
२९	२	नघर्ल	लंघन
२९	३	वत	वात
२९	१	निर्मूल	निर्मूल
२९	१२	आवश्यक	आवश्यक
२९	१५	रोग चिन्ह	रोगचिन्ह
२९	२५	साने	पुराने
३०	५	थी	होगी
३०	१०	करो	करनी चाहिए
३१	८	वैशिष्ट्य	वैशिष्ट्य
३१	१३	(२४)	२४.
३१	१६	स्वप्रथम	सर्वप्रथम
३१	१८	धमना	धमनी
३१	२०	आतिरिक्त	अतिरिक्त
३२	९	ओर	और
३२	१२	देते	देते
३३	८	सब	सब
३३	२७	दूसरा	दूसरा
३४	७	तइ	तह
३४	७	संभावना	संभावना

पृष्ठ	पं०	अशुद्ध	शुद्ध
३४	१६	औषधियां	औषधियों
३४	२२	कुरकुर	कुरकुर
३५	१३	वह दी जाने पर	वह यदि दी गई तो
३५	२०	(२५)	२५.
३६	७	कह लायेगा	कहलायेगा
३६	२१	सानान्य	सामान्य
३६	५	स्त्राव	स्त्राव
३७	४	बहीं	बहीं
३७	३	रोगी	रोगी
३७	१४	(२७)	२७.
३८	७	चिन्हो	चिन्हों
३८	१०	अदृश्य	अदृश्य
३८	२५	अत्यधिक	अत्यधिक
३८	१९	(२८)	२८.
३९	८	हआ	हुई
३९	११	स्त्राव	स्त्राव
३९	१३	गरमी या ठण्ड	गरमी या ठण्ड
३९	१४	स्त्राव	स्त्राव
३९	१४	इस क	इस के
३९	१९	किंचित्	किंचित्
३९	११	नामक	नामक
४०	४	क्यों कि	क्योंकि
४०	८	जिज्ञासुओ	जिज्ञासुओं
४०	१९	म	में
४१	२४	ऊँचो	ऊँची
४१	२४	ऊँचो से कम ऊँच	ऊँचाई से कम ऊँची

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
४१	२५	कभी होती है ।	कभी कभी होती है ।
४२	१०	मट मैला	मटमैला
४२	९	वारण	कारण उलटी;
४०	२२	भुंजे	भूँजे
४३	४	तृत्पि	तृप्ति
४३	५	मांस ताकत	मांस, ताकत
४३	७	बढ़ाना	घढ़ना
४३	१२	स कारण	उस कारण
४३	२३	गुदगदार	गुदद्वार
४४	३	बाढ	बाढ़
४४	३	अपार दर्शक	अपारदर्शक
४४	२१	फाका	फीका
४४	२४	Padpule	Papule
४४	२४	हड्डियो	हड्डियों
४६	१४	सपदंश	सर्पदंश
४६	२	नदनुरूप	तदनुरूप
५०	३	कम	कम
५१	५	के नील	के चारों ओर नील
५१	१६	पथकर	पथ्यकर
५१	१७	मूंग	मूँग
५३	६	मलध्दता	मलबध्दता
५३	१९	Prond	Proud
५३	२३	किंचित्	किंचित्
५६	१४	खुली हवा	खुली हवा में रहना ।
५८	१९	पीडीत	पोडित
५९	२३	आपाशय	आमाशय

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
५९	२३	अमाशय	आमाशय
६०	११	स्वर्णिन स्नाय	स्वर्णिम स्नाव
६०	१२	मं स	मांस
६१	६	दद	दर्द
६१	१६	बारा	बारी
६१	१८	मद	मंद
६२	४	फुले	फूले
६२	७	आव-खून	आंव-खून
६२	७	मेघाच्छदित	मेघाच्छदित
६२	२१	खौसी	खौसी
६३	९	कर्पूर	कर्पूर
६३	२१	मुंग	मुंग
६३	२३	आमातिशार	आमातिसार
६४	५	मननश्चेत	मननश्चेत
६४	७	दसरी	दसरी
६४	८	होते होते	होते
६४	१२	हड्डियों	हड्डियों
६४	१३	पाषण	पीषण
६४	१७	श्लेष्म	श्लेष्मा
६४	२३	कम जोरी	कमजोरी
६७	३	हड्डियां	हड्डियां
६५	२५	मलाई	मलाई
६७	८	नाक की नाक	नाक की नोंक
६७	१२	हड्डियां	हड्डियां
७०	७	के	का

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
७०	७	अतिसार	अतिसार.
७०	१०	नाचे	नाचे
७२	४	दुआ	हूआ
७२	८	रगड़	रगड़
७२	१६	निवल	निकल
७४	४	किनरे	किनारे
७६	२	कोय	कोथ
७६	१०	रक्तस्त्राव	रक्तस्त्राव,
७८	११	फुन्सियों स	फुन्सियों से
८१	१२	बध	बैध
८२	२४	दिन	दन
८३	२१	सवते	सकते
८४	१३	पदार्थ	पदार्थ
८४	१६	शरीर	शरीर के
८४	१९	न	उन
८५	१६	सदो ।	सदोष
८७	२३	जा उपा ।	जो उपाय
९१	२	ictionary	Dictionary
९३	९	व्यजन	व्यंजन
९३	२३	पैदा	पैदा
९५	१५	प्रमान	प्रमाण
९४			८६.०
९६	२२	मिष्ट प्रधान	मिष्टप्रधान
९७	२३	गफली	मूंगफली
९७	२५	करण	कारण

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
९८	१३	अग्नि से	अग्नि से या
९८	१८	अन्नके पोषक	अन्न पोषक
९९	२८	सौम्यकफ, दोष	दोष
९९	९	जब	जब
१००	१०	इन	इस
१०२	२५	सौम्य	सौम्य
१०२	२७	छाछ	छाँछ
१०५	२३	पोषक	पोषक
१०६	२	म स्तम्भक	मलस्तम्भक
॥	११	एव	एवं
॥	१३	ओर	और
१०८	४	माना	मानो
१०९	१४	अप	अल्प
१११	५	हो.	हो
११२	३	अंङ	अण्डे
॥	८	बीमारो	बीमारी
११५	१	एके	पके
११७	८	गोले	गीले
११९	१७	दध	दूध
१२१	७	वे	के
१२१	१८	मधुन	मैथुन. ११७११
१२२	८	विपरीतर्यकारा	विपरीतार्यकारो
१२३	५	धूप	धूप
३	५	ठढ़	ठण्ड
१२३	८	स	इस

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१२४	४	गाली	गीली
१२५	९	रोगा	रोगी
"	११	रोगा	रोगी
"	१४—१५	तो राग को...चाहिए तो रोग को असाध्य समझना चाहिए	
"	१७	शरीरस्थान	शरीरस्थान
"	२२	रागा	रोगी
१२६	१५	भाति	भाति
१२७	१	आनु.....होना	आनुवंशिक होना या शरीररचनाका वैशिष्ट्य होना.
१२७	३	Stalionary	Stationary

